नई दिल्ली
रविवार, 06 जुलाई, 2025, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-7 अंक-37 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

'विकास' के नाम पर हम डाल रहे बाघों और अन्य वन्य प्राणियों के जीवन खतरे में 3

जनगणना में विकलांगों की उपेक्षा बिल्कुल अमानवीय 5

गुड़गुड़ से फैसले 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

बिहार में वोटबंदी की हो रही तैयारी

बिहार में मतदाता सूचियों का 'विशेष गहन पुनरीक्षण' मतदाताओं को सामूहिक रूप से मताधिकार से वंचित करने की शैतानी कवायद

सौ टके का सवाल यह देखने की बात होगी कि अब तक जो लोग वोट देते रहे हैं, उनमें से कितने का यह अधिकार बरकरार रहता है।

योगेन्द्र यादव

भ्रम #1

चुनाव आयोग बिहार की वोटर लिस्ट की गहरी छानबीन और संशोधन कर रहा है।

सचः जी नहीं। बिहार में अभी तक चल रही मतदाता सूची का संशोधन नहीं होगा। पुरानी मतदाता सूची को खारिज कर अब नए सिरे से मतदाता सूची बनेगी।

भ्रम #2

ऐसा पुनरीक्षण पहले दस बार हो चुका है, इसमें कोई नई बात नहीं है।

सचः जी नहीं। इस बार जो हो रहा है, वह अभूतपूर्व है। मतदाता सूची का कंप्यूटरीकरण होने के बाद बार-बार नए सिरे से सूची बनाने की जरूरत नहीं बची थी। यह 22 साल में पहली बार हो रहा है। पहले कभी मतदाता सूची में अपना नाम डलवाने की जिम्मेदारी वोटर पर नहीं डाली गई थी। पहले कभी वोटर से नागरिकता साबित करने के कागज नहीं मांगे गए। पहले कभी चुनाव से चार महीने पहले नए सिरे से सूची नहीं बनाई गई।

भ्रम #3

बिहार की मतदाता सूची में ज्यादा गड़बड़ी थी, इसलिए ऐसा करना पड़ा।

सचः जी नहीं। अभी छह महीना पहले ही बिहार की पूरी मतदाता सूचियों का पुनरीक्षण हुआ था। लाखों नाम जुड़े थे, कटे थे। संशोधित सूची जनवरी में छपी थी। किसी में बड़ी गड़बड़ी की शिकायत नहीं की गई थी। जो कमी-बेशी रह गई थी, उसके लिए लगातार संशोधन चल रहा था। जरूरत थी तो उस सूची का एक और पुनरीक्षण हो सकता था। उस सूची को खारिज कर नए सिरे से सूची बनाने की न कोई मांग थी, न कोई जरूरत।

भ्रम #4

जिनके नाम 2003 की मतदाता सूची में थे, उन्हें कुछ करने की जरूरत नहीं होगी।

सचः जी नहीं। नया फॉर्म हर व्यक्ति को भरना पड़ेगा। जिनका नाम जनवरी 2025 की सूची में वही है (वही पूरा नाम, वही पिता का नाम, वही पता) जैसा 2003 की सूची में था, उसे सिर्फ इतनी छूट मिलेगी कि अपनी जन्मतिथि और जन्मस्थान का प्रमाण नहीं लगाना पड़ेगा। लेकिन उन्हें भी फोटो और हस्ताक्षर के साथ फॉर्म भरना पड़ेगा, 2003 की सूची के अपने नाम वाले पेज की फोटोकॉपी लगानी पड़ेगी।

भ्रम #5

माणपत्र सिर्फ उन्हीं से मांगा जाएगा, जिनकी नागरिकता पर शक है।

सचः जी नहीं। जिनका भी नाम 2003 की सूची में नहीं था, उन सब को फॉर्म भरने के साथ प्रमाणपत्र भी लगाने होंगे। जिनका जन्म 1 जुलाई 1987 के पहले हुआ था, उन्हें सिर्फ अपने जन्मतिथि और जन्मस्थान का प्रमाण देना होगा। जिनका जन्म 1 जुलाई 1987 से 2 दिसंबर 2004 के बीच हुआ था, उन्हें अपने और अपने माता-पिता में से किसी एक का प्रमाणपत्र देना होगा। जिनका जन्म 2 दिसंबर 2004 के बाद हुआ है, उन्हें अपने और अपने माता और पिता दोनों का प्रमाणपत्र देना होगा। अगर माता और पिता का नाम 2003 की सूची में था, तो उस पेज की फोटोकॉपी से उनके प्रमाणपत्र का काम चल जाएगा लेकिन तब भी आवेदक को अपनी जन्मतिथि और जन्मस्थान का प्रमाण तो लगाना ही पड़ेगा।

भ्रम #6

नागरिकता के प्रमाणपत्र के लिए चुनाव आयोग ने बहुत विकल्प दिए हैं, कोई न कोई कागज तो हर घर में मिल ही जाएगा।

सचः जी नहीं। हर घर में आम तौर पर जो पहचान या प्रमाणपत्र होते हैं, उनमें से कोई भी चुनाव आयोग नहीं मानेगा — न आधार कार्ड, न राशन कार्ड, न चुनाव आयोग का अपना पहचान पत्र, न मनरेगा का जॉब कार्ड। चुनाव आयोग ने जो 11 प्रमाणपत्र मान्य किए हैं, उनमें से कुछ तो बिहार पर लागू ही नहीं होते या कहीं देखने को नहीं मिलते। कुछ इन गिने लोगों के पास ही होते हैं, जैसे पासपोर्ट (2.4 प्रतिशत), जन्म प्रमाणपत्र (2.8 प्रतिशत), सरकारी नौकरी या पेंशनधारी का पहचान पत्र (5 प्रतिशत) या जाति प्रमाणपत्र (16 प्रतिशत) साधारण घर में नहीं मिलते। बच गया मैट्रिक या डिग्री का प्रमाणपत्र, वह बिहार में आधे से कम लोगों के पास है।

> ढाई करोड़ लोगों के पास वे प्रमाणपत्र नहीं होंगे जो चुनाव आयोग मांग रहा है। मतलब 'विशेष गहन पुनरीक्षण' से अंतिम व्यक्ति के हाथ से वह एकमात्र अधिकार चला जाएगा जो आज भी उसके पास है — वोट का अधिकार। पहले नोटबंदी, फिर कोरोना में देशबंदी, अब वोटबंदी की तैयारी

भ्रम #7

जो नियम हैं, सबके लिए बराबर हैं। इसमें कोई भेदभाव नहीं है।

सचः जी नहीं। कहने के लिए बराबर हैं, लेकिन वास्तव में जिन भी लोगों को जीवन में पढ़ाई के अवसर नहीं मिले, उनके साथ भेदभाव है। इसका असर यही होगा कि औरत, गरीब, प्रवासी मजदूर और दलित-आदिवासी पिछड़े वर्ग के लोग प्रमाणपत्र देने में पिछड़ जाएंगे और उनका वोट कट जाएगा। शिक्षित होना नागरिकता की शर्त बन जाएगा।

भ्रम #8

आठवां भ्रमः चुनाव आयोग ने तीन महीने का समय दिया है, सब का नाम शामिल हो जाएगा।

सचः जी नहीं। असली समय तो सिर्फ एक महीने का है, 25 जुलाई तक। बाकी दो महीने तो आपत्ति निवारण और आयोग की अपनी कागजी कार्रवाई के लिए हैं। इस पहले महीने में चुनाव आयोग की अपेक्षा है कि सभी बूथ लेवल ऑफिसर की ट्रेनिंग हो जाएगी (जबकि उनमें से 20 हजार की अभी नियुक्ति भी नहीं हुई थी), वे पार्टियों के एजेंट की ट्रेनिंग कर देंगे, हर घर में नए फॉर्म पहुंचा देंगे, हर व्यक्ति वह फॉर्म भर देगा, जो प्रमाणपत्र चाहिए, उन्हें लगा देगा, भरे हुए फॉर्म को हर घर से इकट्ठा कर लिया जाएगा और उन्हें कंप्यूटर पर अपलोड कर उसकी जांच भी शुरू हो जाएगी! जिस भी व्यक्ति का फॉर्म 25 जुलाई तक जमा नहीं हुआ, उसका नाम मतदाता सूची में आएगा ही नहीं।

भ्रम #9

इस पुनरीक्षण से बांग्लादेशी घुसपैठियों की समस्या खत्म हो जाएगी।

सचः जी नहीं। अगर बिहार में अवैध विदेशी नागरिकों की समस्या है, तो मुख्यतः बांग्लादेश से आए मुसलमानों की नहीं, बल्कि तराई के नेपालियों की है जो अधिकांश हिन्दू हैं। हो सकता है इससे कुछ हजार बांग्लादेशी नागरिकों और दसियों हजार नेपाली नागरिकों का नाम मतदाता सूची से कट जाए। लेकिन इसके चलते लगभग ढाई करोड़ भारतीय नागरिकों का नाम भी कट जाने की आशंका है। मक्खी मारने के लिए नाक पर हथौड़ा नहीं चलाया जाता।

अंतिम सचः बिहार की कुल आबादी लगभग 13 करोड़ है। इनमें से कोई 8 करोड़ वयस्क हैं जिनका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए। इनमें से सिर्फ 3 करोड़ के करीब लोगों का नाम 2003 की मतदाता सूची में था। बाकी 5 करोड़ को अपनी नागरिकता के प्रमाण जुटाने पड़ेंगे। उनमें से आधे यानी ढाई करोड़ लोगों के पास वे प्रमाणपत्र नहीं होंगे जो चुनाव आयोग मांग रहा है। मतलब इस 'विशेष गहन पुनरीक्षण' से अंतिम व्यक्ति के हाथ से वह एक मात्र अधिकार चला जाएगा जो आज भी उसके पास है — वोट का अधिकार। पहले नोटबंदी हुई, फिर कोरोना में देशबंदी हुई, अब वोटबंदी की तैयारी है। ■

साभारः नवोदय टाइम्स

संविधान हम नागरिकों के हवाले

देश के संविधान की प्रस्तावना पर हमला भारतीय स्वयंसेवक संघ के लिए कोई नई बात नहीं। उसने इस संविधान को कभी नहीं चाहा

संजय हेगड़े

जब तक आप यह आलेख पढ़ रहे होंगे, संघ (परिवार) से किसी और ने भी सुझाव दे दिया होगा कि संविधान की प्रस्तावना से 'सोशलिस्ट' और 'सेक्युलर' शब्दों को हटाने पर विचार होना चाहिए। संघ के सरकार्यवाह दत्तात्रेय होसबोले ने आपातकाल की 50वीं बरसी पर मांग की कि इन शब्दों को हटाया जाए। उनकी दलील थीः ये शब्द मूल संविधान में नहीं थे और इंदिरा गांधी ने आपातकाल के दौरान इन्हें जोड़ा। इस तरह की मांग के गहरे अर्थ को समझें- ये बेकार के मूल्य हैं।

हमें इस मामले में स्पष्ट होना चाहिए कि यह कोई संवैधानिक सुधार नहीं है, कि यह कोई अकादमिक तर्क-वितर्क नहीं। यह एक राजनीतिक प्रस्ताव है- एक अलग भारत की परिकल्पना जिसमें 'सेक्युलर' या 'सोशलिस्ट' शब्दों के लिए कोई जगह नहीं। यह डॉ. आंबेडकर के समावेशी गणराज्य की परिकल्पना की जगह संकीर्ण हिन्दू-प्रथम और बाजार-संचालित व्यवस्था को स्थापित करने वाली है। सुधार के बाने में यह परिकल्पना दरअसल प्रतिगामी है।

दो दृष्टि, दो भारत

संविधान में जिस भारत की कल्पना की गई है, वह बहुलवादी, समावेशी और लोकतांत्रिक है। वह धर्मनिरपेक्ष है - इसलिए नहीं कि यह धर्म को खारिज करता है, बल्कि इसलिए कि यह सभी धर्मों के लिए समान सम्मान के विचार को कायम रखता है। यह समाजवादी है- इसलिए नहीं कि यह उद्यम को खत्म करता है, बल्कि इसलिए कि यह सभी के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का आश्वासन देता है।

संघ द्वारा प्रस्तावित मॉडल भावना में हिन्दू राष्ट्र और व्यवहार में 'कॉर्पोरेट उद्यम' है। इसके केन्द्र में धर्म है- व्यक्तिगत आस्था से जुड़े विषय के रूप में नहीं, बल्कि एक राजनीतिक औजार के रूप में। बाजार न केवल धन बल्कि मूल्य भी तय करते हैं। भारत के असमान समाज में, अल्पसंख्यकों को अपनी जगह पता होनी चाहिए और गरीबों को अपनी सीमाएं।

यह नया भारत किसी नई संवैधानिक दृष्टि का परिणाम नहीं। यह उन लोगों का पुराना सपना है जिन्होंने 1950 में संविधान का विरोध किया, जिन्होंने 1947 में झंडे को सलामी नहीं दी और जिन्होंने लंबे समय तक जातियों, समुदायों और नागरिकों के बीच समानता के विचार का मखौल उड़ाया।

वास्तव में संविधान क्या कहता है

यह सच है कि 1976 में 42वें संशोधन के जरिये प्रस्तावना में 'सेक्युलर' और 'सोशलिस्ट' शब्द जोड़े गए थे। लेकिन यह तर्क देना गलत है कि ये विचार पहले से संविधान में शामिल नहीं थे। अनुच्छेद 14 समानता की गारंटी देता है। अनुच्छेद 15 धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव को रोकता है। अनुच्छेद 25 धर्म की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। अनुच्छेद 27 और 28 धर्म को सार्वजनिक शिक्षा और कराधान से बाहर रखते हैं। अनुच्छेद 29 और 30 संस्कृति और शिक्षा के मामले में अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करते हैं।

ये अनायास नहीं; संविधान की बुनियाद हैं। केशवानंद भारती (1973) केस में सुप्रीम कोर्ट ने फैसला दिया कि धर्मनिरपेक्षता संविधान के मूल ढांचे का हिस्सा है। एस.आर. बोम्मई (1994) मामले में सुप्रीम कोर्ट ने दोहराया कि भारतीय राज्य एक धर्म को दूसरे धर्म पर बढ़ावा नहीं दे सकता। केशवानंद भारती का फैसला 42वें संशोधन से पहले आया था और बोम्मई मामला बाद में। दोनों में एक ही स्थिति को दोहराया गया। इसलिए ये बाध्यकारी कानून हैं,स्थापित नैतिकता हैं।

ऐसे ही, भारतीय संदर्भ में 'समाजवाद' कल्याणकारी राज्य के विचार को दिखाता है। अनुच्छेद 39 (आम भलाई के लिए भौतिक संसाधनों का वितरण) और अनुच्छेद 43 (जीविका मजदूरी) जैसे निर्देशक सिद्धांत इस दृष्टिकोण को मूर्त रूप देते हैं। भारतीय मॉडल कभी भी कट्टर मुक्त-बाजार का हामी नहीं था। यह संवैधानिक लोकतंत्र के माध्यम से सामाजिक न्याय का मॉडल था और ऐसा ही बनने की कोशिश करता है। हालांकि पिछले दशक में असमानता तेजी से बढ़ी और यह अभूतपूर्व स्तर पर जा पहुंची। स्थिति यह है कि ब्रिटिश राज के दौरान भी ऐसी असमानता नहीं देखी गई।

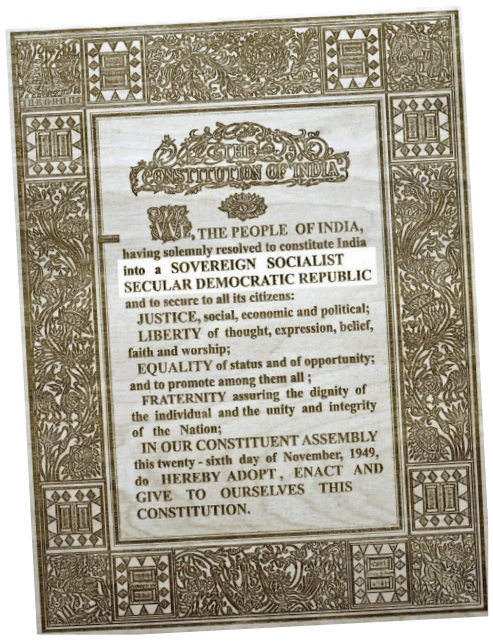

> इस गणतंत्र के रक्षकों के लिए यह समय लक्ष्मण रेखा खींचने का है। हमें साफ शब्दों में कहना चाहिए: यह संविधान हमारा है- हमारी विरासत, हमारा हथियार, हमारा कर्तव्य। हम उनलोगों को इसमें फेरबदल की इजाजत नहीं देंगे जिन्होंने इसके पहले मसौदे को कभी मंजूर नहीं किया

अभी ही यह हमला क्यों?

इन शब्दों को हटाए जाने की मांग अचानक नहीं हुई- यह एक लंबी वैचारिक परियोजना की परिणति है। कुछ ताकतें संविधान सभा के समय से ही आधुनिक भारत की दृष्टि से असहज रही हैं। वे ताकतें जो संविधान की तुलना में मनुस्मृति को प्राथमिकता देती हैं; जो समानता में नहीं, बल्कि ऊंच-नीच में यकीन करती हैं; जो वर्तमान सत्ता की राजनीति को छिपाने के लिए प्राचीन 'सभ्यतागत मूल्यों' की बात करती हैं। वे कभी इस विचार को पूरी तरह हजम नहीं कर सकीं कि एक दलित, एक मुस्लिम, एक आदिवासी, एक महिला या एक गरीब किसान का भारतीय गणराज्य पर उतना ही अधिकार हो सकता है जितना किसी और का। लेकिन अब, चुनावी बहुमत और मौजूदा राजनीतिक बहाव से उत्साहित होकर वे उस विचारधारा को कानूनी जामा पहनाना चाहते हैं।

हालांकि वे एक बात भूल जाते हैंः संविधान केवल संसद का नहीं है। यह लोगों का है और लोगों ने हिन्दू राष्ट्र नहीं चुना। उन्होंने भाईचारा चुना। उन्होंने बहुसंख्यकवाद नहीं, समानता चुनी। उन्होंने ढर्रे पर चलना नहीं चुना, उन्होंने एक ऐसा राज्य चुना जो कमजोरों की रक्षा करता हो।

सावधानी और उम्मीद

जो लोग प्रस्तावना पर हमला बोल रहे हैं, उन्हें याद रखना चाहिएः प्रस्तावना सजावटी नहीं- यह एक प्रण है। इसके शब्दों को मिटाना इसकी आत्मा पर हमला करना है। अपने अस्थायी बहुमत की मौजूदा स्थिति में जो आपको पसंद है उसे बनाए रखने और जो नापसंद है, उसे निकाल बाहर फेंकने की ओर न बढ़ें। गणतंत्र के रक्षकों के लिए यह समय लक्ष्मण रेखा खींचने का है। हमें साफ शब्दों में कहना चाहिएः यह संविधान हमारा है- हमारी विरासत, हमारा हथियार, हमारा कर्तव्य। हम उन लोगों को इसमें फेरबदल की इजाजत नहीं देंगे जिन्होंने इसके पहले मसौदे को कभी मंजूर नहीं किया। हम उन लोगों के सामने नहीं झुकेंगे जो इसके मूल्यों के लिए कभी खड़े नहीं हुए।

भारत की सबसे बड़ी ताकत इसकी विविधता है और इसका सबसे स्पष्ट उद्बोधन इसकी प्रस्तावना में हैः 'हम, भारत के लोग... अपने सभी नागरिकों को न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा सुनिश्चित करने के लिए'। उन शब्दों को बने रहने दें। उन मूल्यों को जीवित रहने दें। इस गणतंत्र को कायम रहने दें। ■

राज्य 360° हरियाणा

ये आंदोलन कहीं महंगे न पड़ जाएं भाजपा को

पठन-पाठन नहीं, छात्रों के आंदोलन के कारण 'हरियाणा के जेएनयू' के तौर पर जाना जाने लगा है एचएयू

विरोध स्कॉलरशिप में कटौती के खिलाफ आंदोलनरत चौधरी चरण सिंह हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय के विद्यार्थी।

विश्वदीपक

चौधरी चरण सिंह हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय (एचएयू) हिसार में है और इसे एशिया के सबसे बड़े कृषि विश्वविद्यालयों में से एक माना जाता है। लेकिन इसे इन दिनों 'हरियाणा के जेएनयू' के तौर पर जाना जाने लगा है- और ऐसा इसमें पठन-पाठन की वजह से नहीं, बल्कि यहां हो रहे छात्रों के नेतृत्व वाले आंदोलन के कारण।

भाजपा के नेतृत्व वाली राज्य सरकार ने स्कॉलरशिप में कटौती की, तो आंदोलन की शुरुआत हुई। लेकिन जिस तरह से अन्य वित्तीय कटौती की गई और संस्थान में दमन की घटनाएं हुईं, उससे छात्रों का प्रतिरोध शुरू हो गया। दरअसल, स्कॉलरशिप का मसला नई नीति से है जिसे विश्वविद्यालय प्रशासन ने लागू किया है। माना जाता है कि यह राज्य सरकार के कहने पर लागू की गई है जिसमें योग्य उम्मीदवारों का मासिक स्टाइपेंड कम कर दिया गया है। पहले, 70 प्रतिशत या अधिक (या 7.5 ओवरऑल ग्रेड प्वाइंट (ओजीपी)) पाने वाले एमएससी और पीएचडी के विद्यार्थियों को हर माह 3,000 से 12,000 रुपये मिलते थे। अब, एक तो 70 प्रतिशत को बढ़ाकर 75 प्रतिशत कर दिया गया है, दूसरा कि इनमें से टॉप के 25 प्रतिशत विद्यार्थियों को ही यह सुविधा दी जाएगी।

इसका गहरा असर हुआ है। कई के लिए इसका मतलब अयोग्यता है, खास तौर से उनलोगों के लिए जो ग्रामीण और आर्थिक रूप से पिछड़ी पृष्ठभूमि से आते हैं और जो इस स्कॉलरशिप के भरोसे ही रिसर्च करने की सोच पाते थे। विद्यार्थियों का तर्क है कि यह नीति अलग-थलग कर देने वाली तो है ही, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आईसीएआर) ने भी इस किस्म की संकरी और मेरिट आधारित फिल्टर नहीं लगा रखी हैं। विश्वविद्यालय का तर्क है कि वह वित्तीय दबाव में है लेकिन उसने 'प्रतियोगिता' को बढ़ावा देने के खयाल से भी ऐसा किया है। यह तर्क इसलिए गले के नीचे नहीं उतर रहा क्योंकि यह सार्वजनिक शिक्षा में समान अवसर देने के विचार के खिलाफ है।

स्थिति तब बिगड़ गई जब विरोध कर रहे विद्यार्थियों के साथ 10 जून को दुर्व्यवहार किया गया। कई छात्राओं ने आरोप लगाया कि उनके होस्टलों की मेस सेवाएं स्थगित कर दी गईं और पानी की सप्लाई काट दी गई। हालांकि मुख्यमंत्री नायब सिंह सैनी के हस्तक्षेप से स्कॉलरशिप की पुरानी नीति वापस हो गई, लेकिन विद्यार्थियों का गुस्सा कम नहीं हो रहा।

अब वे उपकुलपति को हटाने और इस बारे में लिखित आश्वासन की मांग कर रहे हैं कि सरकार इस किस्म की नीतियां दोबारा नहीं लागू करेगी। कांग्रेस पार्टी ने भाजपा पर यह आरोप लगाते हुए इस बात को हवा दी है कि सरकार शैक्षिक संस्थानों को कमजोर कर रही है। एनएसयूआई अध्यक्ष वरुण चौधरी ने एचएयू परिसर का दौरा कर विद्यार्थियों के साथ एकजुटता की बात कही है।

'जय श्री कृष्ण' की हुंकार

रेवाड़ी जिले के भावनपुर गांव में एक अलग किस्म का विरोध दिख रहा। अस्पताल संघर्ष समिति के नेतृत्व में स्थानीय लोग उस जमीन पर 200 बिस्तरों वाले अस्पताल की मांग कर रहे हैं जिसे उन्होंने ही दान दी है। किसानों ने यह 10 एकड़ जमीन दी है और वहां पानी वितरण व्यवस्था भी कर दी है। उनका आरोप है कि सरकार यह सामाजिक उत्तरदायित्व नहीं निभा रही है। राजनीतिक तौर पर महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें अहीर-यादव समुदाय की भागीदारी है जो दक्षिणी हरियाणा में भाजपा का वोट बैंक माना जाता रहा है। खास बात यह है कि इसमें 'जय श्री कृष्ण' के नारे लगाए जा रहे। अहीर-यादव समुदाय अपने सूत्र भगवान कृष्ण से ही जोड़ता है। विरोध में इसे आगे करना इसको सांस्कृतिक पुट देना है। जाति गौरव, नागरिक कर्तव्य को लेकर मांग और साथ में धार्मिक पहचान- तीनों को एक साथ स्वर देने से यह आंदोलन थोड़ा भिन्न हो गया है।

इस आंदोलन से जुड़े लोगों ने 16 जून को स्थानीय सांसद, केन्द्रीय मंत्री और राज्य के बड़े नेता कहे जाने वाले राव इंद्रजीत सिंह से मिलने की कोशिश की लेकिन विफल रहे। जानकारों का मानना है कि इससे समुदाय के लोगों में गुस्सा बढ़ गया। प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता और स्वराज इंडिया नेता योगेन्द्र यादव ने जून के अंत में भावनपुर में आयोजित महापंचायत में कहा कि 'मैं राव इंद्रजीत सिंह की तरफ से माफी मांगता हूं। इस इलाके के लोगों में उनके प्रति गहरा आदर और सम्मान रहा है। लोगों ने तो उनके प्रति अपने वादे पूरे कर दिए, लेकिन प्रतिदान में उन्होंने ऐसा नहीं किया।' एक अन्य वक्ता राजेन्द्र कॉमरेड ने चेतावनी दी कि 'अगर राव ने माफी नहीं मांगी, तो विरोध और आगे बढ़ेगा।' गांव वालों ने भवन निर्माण की डेडलाइन 12 जुलाई रखी है। संडे नवजीवन से बात करते हुए एक आंदोलनकारी ने कहा कि 'प्रधानमंत्री एम्स का उद्घाटन करते हैं और टीवी स्क्रीन पर उनकी फोटो चमकने लगती है। फीते काटने का तो उनके पास वक्त है, पर किसानों के लिए समय नहीं है।'

इस समुदाय की अन्य मांग की आग भी इन दिनों सुलग रही है। 1962 में चीन के खिलाफ लड़ते हुए 13 कुमाऊं रेजिमेंट ने अप्रतिम शौर्य का प्रदर्शन किया था। इनमें अहीर सैनिकों की प्रमुख भूमिका रही थी। उसकी याद में सेना में अहीर रेजिमेंट बनाने की मांग काफी दिनों से की जा रही है। पिछले लोकसभा चुनाव के दौरान भी इस मांग को जोर-शोर से उठाया गया था लेकिन नरेन्द्र मोदी सरकार ने यह कहकर ठुकरा दिया कि वह जाति-आधारित रेजिमेंट के पक्ष में नहीं हैं। कांग्रेस ने आंदोलनकारियों का यह कहकर समर्थन किया है कि भाजपा अहीर-यादव समुदाय का चुनावी लाभ तो उठा लेती है लेकिन उनके प्रमुख मुद्दों से किनारा कर लेती है।

> भाजपा सरकार ने स्कॉलरशिप में कटौती की, तो आंदोलन की शुरुआत हुई। लेकिन जिस तरह से अन्य वित्तीय कटौती की गई और संस्थान में दमन की घटनाएं हुईं, उससे छात्रों का प्रतिरोध शुरू हो गया। दरअसल, स्कॉलरशिप का मसला नई नीति से है जिसे विश्वविद्यालय प्रशासन ने लागू किया है

आंदोलन की गति बढ़ने से भाजपा में चिंता बढ़ रही है। भाजपा सूत्रों के मुताबिक, मुख्यमंत्री सैनी खासे चिंतित हैं। उन्हें लगता है कि जाति गौरव और इलाकाई पहचान की बातें इसी तरह बनी रहीं, तो यह गंभीर राजनीतिक सिरदर्द भी बन सकता है।

खट्टर काका बनेंगे अध्यक्ष?

भाजपा के अगले अध्यक्ष के हरियाणा एंगल की इन दिनों खासी चर्चा है। इस पद के लिए तीन केन्द्रीय मंत्री प्रमुख दावेदार माने जाते हैं- शिवराज सिंह चौहान, भूपेंद्र यादव और मनोहर लाल खट्टर। खट्टर की इसमें बढ़त बताई जाती है। 1994 में औपचारिक तौर पर भाजपा में आने से पहले 1977 से वह संघ प्रचारक रहे हैं। पार्टी और उसके सिद्धांतों से वह कभी विचलित नहीं हुए, संगठन के प्रति सब दिन निष्ठावान रहे और चाहे जैसे भी हों, अपने तईं उनके पास प्रशासनिक अनुभव भी है।

वह पंजाबी बनिया हैं। 2014 में उन्होंने पहला चुनाव जीता। जातियों में बंटे हरियाणा में वह पहले गैर जाट मुख्यमंत्री बने। मार्च 2024 में उन्हें इस पद से हटना पड़ा, पर तब से वह केन्द्रीय मंत्री हैं। 2024 में उन्होंने करनाल लोकसभा सीट 2.35 लाख वोटों से जीती। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी से उनकी नजदीकी 1990 के दशक से है। शिवराज सिंह चौहान की पीठ पर भी संघ है लेकिन राजनीतिक विश्लेषक मानते हैं कि अपने राजनीतिक जीवन में वह जिस तरह 'बैलेंस' बनाकर चलने की कोशिश करते हैं, यह उनके खिलाफ भी जा सकता है। केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह के नजदीकी कहे जाने वाले भूपेंद्र यादव चुनावों के दौरान लो प्रोफाइल रहकर पार्टी की जिस तरह मदद करते हैं, वह उनके पक्ष में है। लेकिन सभा मंचों पर अलग से वह अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाते, इसलिए उन्हें लेकर हिचकिचाहट हो सकती है। चौहान और भूपेंद्र- दोनों ही ओबीसी हैं लेकिन प्रधानमंत्री मोदी भी अपने को ओबीसी बताते हैं। इसलिए इन दोनों के नामों का पलड़ा थोड़ा हल्का है। ऐसे में, खट्टर के नाम लॉटरी लग जाए, तो आश्चर्य नहीं। ■

राज्य 360° पंजाब

नहीं रुक रहा नशे का दुष्चक्र

यह मानने वालों की संख्या कम है कि मान सरकार मजीठिया मामले को किसी अंजाम तक पहुंचा पाएगी

हरजिंदर

इसे कहानी का सबसे अहम हिस्सा होना चाहिए था, पर पिछले सप्ताह हुई बिक्रम सिंह मजीठिया की गिरफ्तारी पंजाब की त्रासद कथा का वह मोड़ नहीं है जिससे कथानक में अर्थपूर्ण बदलाव की कोई उम्मीद की जाए। पंजाब में यह यकीन करने वालों की संख्या बहुत कम है कि भगवंत सिंह मान की सरकार इस मामले को किसी अंजाम तक पहुंचा पाएगी।

वैसे तो मजीठिया को ड्रग्स की तस्करी और आय से अधिक संपत्ति मामले में चरनजीत सिंह चन्नी की सरकार ने 2022 में पहली बार गिरफ्तार किया गया था। लेकिन कुछ ही समय बाद चुनाव हुए तो पंजाब में आम आदमी पार्टी की सरकार बन गई। मान मुख्यमंत्री बने और अब उनकी बारी थी उस आदमी को सजा दिलवाने की जिस पर आरोपों की बरसात करते हुए उनकी पार्टी ने पंजाब में पैर जमाए थे। लेकिन सरकार बनने के कुछ ही महीने बाद अगस्त 2022 में हाईकोर्ट ने मजीठिया को जमानत दे दी। राज्य सरकार सुप्रीम कोर्ट गई, पर वह जमानत खारिज नहीं करवा सकी।

अब जरा चलते हैं थोड़ा पहले जब पंजाब में 2017 के विधानसभा चुनाव की तैयारियां चल रहीं थीं। आम आदमी पार्टी ने पंजाब में पैर फैलाने शुरू किए थे। पार्टी नेता अरविंद केजरीवाल, आशीष खेतान और संजय सिंह ने मजीठिया को ड्रग्स तस्करी के सरगना के रूप में पेश कर रहे थे। इसके खिलाफ मजीठिया अदालत पहुंच गए। चुनाव बाद जब दबाव बढ़ा तो केजरीवाल और खेतान ने आरोपों के लिए सार्वजनिक माफी मांग ली। संजय सिंह के खिलाफ मामला अभी चल रहा है। अब जब आम आदमी पार्टी मजीठिया को गिरफ्तार करके डेढ़ साल बाद होने वाले विधानसभा चुनाव के लिए ताल ठोंकना चाहती है, सवाल यही है कि इसे कितनी गंभीरता से लिया जाए?

पंजाब की नशे की समस्या का जब-जब जिक्र होता है, मजीठिया का नाम जरूर आता है। यह 2013 में तब शुरू हुआ जब जगदीश भोला नाम के एक शख्स को सिंथेटिक ड्रग्स की तस्करी के लिए गिरफ्तार किया गया। उसके पास से बड़ी मात्रा में सिंथेटिक ड्रग्स भी बरामद हुई। जगदीश भोला अर्जुन अवार्ड से सम्मानित पहलवान था, खेल कोटे से पंजाब पुलिस में नौकरी पाकर डीएसपी बन गया था। तब उसने बयान दिया कि इस कारोबार में उसके साथ मजीठिया भी शामिल हैं। पंजाब में अकाली दल की सरकार थी और मजीठिया उसमें वरिष्ठ मंत्री थे, इसलिए मामले को ज्यादा तूल नहीं मिली।

केन्द्र सरकार ने प्रवर्तन निदेशालय यानी ईडी को जांच सौंपी, तो उसके सामने भी भोला ने यही बात दोहराई। ईडी ने पैसे के लेन देन का भी पता लगाया। कहा जाता है कि इसमें से 540 करोड़ रुपये मजीठिया परिवार की कंपनी सराया इंडस्ट्रीज लिमिटेड को दिए गए थे। जांच ईडी के डिप्टी डॉयरेक्टर निरंजन सिंह कर रहे थे। 26 दिसंबर 2014 को उन्होंने मजीठिया को भी पूछताछ के लिए बुलाया था। लेकिन तब तक केन्द्र में नरेन्द्र मोदी की सरकार बन चुकी थी जिसमें अकाली दल भी शामिल था। जांच आगे बढ़ती, इसके पहले ही जनवरी 2015 में निरंजन सिंह का तबादला पंजाब से कोलकाता कर दिया गया।

पंजाब में कांग्रेस की सरकार बनने के बाद जांच फिर शुरू हुई। कहा जाता है कि जब तक अमरिंदर सिंह मुख्यमंत्री थे, जांच में ढिलाई बरती गई। चरनजीत सिंह चन्नी की सरकार के समय मामले को तत्कालीन पुलिस महानिदेशक सिद्धार्थ चट्टोपाध्याय को सौंपा गया। नतीजा था फरवरी 2022 में मजीठिया की गिरफ्तारी। लेकिन मान सरकार उनके खिलाफ पर्याप्त सबूत नहीं जुटा सकी और वह कुछ ही महीनों में जमानत पर रिहा हो गए।

अब फिर मजीठिया की गिरफ्तारी पर सिद्धार्थ चट्टोपाध्याय और निरंजन सिंह दोनों मैदान में कूद पड़े हैं। दोनों रिटायर हो चुके हैं और कह रहे हैं कि ड्रग्स तस्करी मामले में मजीठिया के पास पर्याप्त और पक्के सबूत हैं, इसलिए उनके खिलाफ मुकदमा चलाया जा सकता है।

दूसरा सच यह है कि मजीठिया के खिलाफ अब जो मामला बनाया गया है, उसमें ड्रग्स को कोई जिक्र तक नहीं है। यह मामला दर्ज किया है राज्य के विजिलेंस ब्यूरो ने। ड्रग्स के आरोपों की जांच करना या इसे लेकर मुकदमा चलाना ब्यूरो के अधिकार क्षेत्र में ही नहीं आता। आमतौर पर वह भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच ही करता है। मजीठिया के खिलाफ मान सरकार ने जो मामला बनाया है, वह ड्रग्स का न होकर आय से अधिक संपत्ति का है।

पूछताछ ड्रग्स मामले में पूछताछ के लिए एसआईटी के समक्ष जाने से पहले शिरोमणि अकाली दल नेता बिक्रम सिंह मजीठिया।

मजीठिया का नाम ड्रग्स को लेकर एक दशक से भी ज्यादा समय से चर्चा में है। पंजाब में बहुत से लोग मानते हैं कि ईमानदारी से जांच हो, तो मजीठिया को सजा हो सकती है। लेकिन यह मानने को कोई तैयार नहीं कि मजीठिया के खिलाफ आय से अधिक संपत्ति का मामला सफल हो सकता है। मजीठिया परिवार पिछली कई पुश्तों से पंजाब के सबसे रईस खानदानों में से एक है। अविभाजित पंजाब में भी उनकी गिनती वहां के सबसे बड़े जमीदारों में होती थी। ब्रिटिश सरकार ने तो इन्हें एक तरह से राजा का दर्जा भी दिया था। इसलिए यह माना जा रहा है कि ऐसे शख्स के खिलाफ आय से अधिक संपत्ति का मामला चलाना एक मजाक है।

अब अकाली दल और भाजपा साथ नहीं हैं लेकिन केन्द्र सरकार ने इस मामले को आगे बढ़ाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई है। माना जाता है कि दोनों दलों में भले ही दूरिया बन गई हैं, दोनों को शायद अहसास है कि उनका काम एक दूसरे के बिना नहीं चल सकता। दोनों में फिर से गंठजोड़ हो सकता है, इसके संकेत कुछ समय पहले पंजाब भाजपा के अध्यक्ष सुनील कुमार जाखड़ ने दिए भी थे।

> मान सरकार ने राजनीतिक कारणों से मामले तो बहुत दर्ज किए, लेकिन एक को भी अंजाम तक नहीं पहुंचा सकी। भ्रष्टाचार को बर्दाश्त न करने वाली सरकार दिखाने के लिए अपनी ही पार्टी के विधायकों और यहां तक कि मंत्रियों के खिलाफ कई मामले दर्ज किए, लेकिन कुछ अदालत में गिर गए और कुछ ठंडे बस्ते में चले गए

दूसरी तरफ, मान सरकार ने राजनीतिक कारणों से मामले तो बहुत दर्ज किए हैं, लेकिन उसमें से एक को भी वह अंजाम तक नहीं पहुंचा सकी। खुद को भ्रष्टाचार को बर्दाश्त न करने वाली सरकार दिखाने के लिए खुद अपनी ही पार्टी के विधायकों और यहां तक कि मंत्रियों के खिलाफ कई मामले दर्ज किए, लेकिन कुछ अदालत में गिर गए और कुछ ठंडे बस्ते में चले गए। राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ चलाए गए मामलों में सबसे चर्चित कांग्रेस नेता भारत भूषण आशु का था। कांग्रेस सरकार में मंत्री रहे आशु के खिलाफ दो हजार करोड़ रुपयों के घोटाले का मामला चलाया गया। ईडी ने भी जांच की। आशु को गिरफ्तार किया गया। कई महीने जेल में रहे। बाद में हाईकोर्ट ने न सिर्फ आशु को रिहा कर दिया, बल्कि उनके खिलाफ दायर की गई एफआईआर को भी रद्द कर दिया गया।

माना जा रहा है कि मजीठिया की गिरफ्तारी के पीछे असली कारण यह है कि राज्य सरकार की नजर डेढ़ साल बाद होने वाले विधानसभा चुनाव पर है। कोई उम्मीद नहीं कर रहा कि इससे पंजाब की नशे की विकराल होती समस्या में कोई कमी आएगी। इस बीच मान सरकार ने 'युद्ध, नशियां विरुद्ध' नाम से एक अभियान शुरू किया है, लेकिन यह भी जनसंपर्क अभियान की तरह ही है, जिसमें समस्या को लेकर कोई गंभीरता नहीं दिख रही।

यह सब तब है जब पंजाब पर नशे का शिकंजा बढ़ता ही जा रहा है। पोस्ट ग्रेजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल एजूकेशन एंड रिसर्च के अनुसार, पंजाब की 15.1 फीसद आबादी नशे की गिरफ्त में है, यानी राज्य में तकरीबन 31 लाख लोग नियमित रूप से ड्रग्स का सेवन कर रहे हैं। एक दूसरे शोध के अनुसार, इस समय देश में जितनी औरतें ड्रग्स की शिकार हैं, उनमें से 16 फीसद पंजाब में हैं। पंजाब में 35 फीसद घर ऐसे हैं जहां कम से कम एक व्यक्ति ड्रग्स की लत का शिकार है। पाकिस्तानी सीमा से सटे इलाकों में तो ऐसे घरों की संख्या 80 फीसद तक है। लेकिन यदा-कदा नशे की खेप पकड़ने के अलावा कोई बड़ी और अर्थपूर्ण कार्रवाई नजर नहीं आई। इस बीच ड्रग्स का दायरा हरियाणा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश तक फैलने लगा है।

एक अनुमान के अनुसार, पंजाब में इस समय 70 से ज्यादा आपराधिक गिरोह सक्रिय हैं। इनमें से ज्यादातर के तार किसी न किसी स्तर पर ड्रग्स की तस्करी से जुड़े हैं। पिछले दस दिनों से पंजाब में जग्गू भगवानपुरिया गैंग की काफी चर्चा हो रही है। ड्रग्स की तस्करी में सबसे ज्यादा मामले इसी गिरोह के साथ जुड़े पाए गए हैं। लारेंस बिशनोई और कौशल चैधरी गैंग के नाम भी समय-समय पर सामने आते रहे हैं। पंजाब सरकार इन गिरोहों को खत्म करने के लिए भी सक्रिय दिखाई नहीं दी है। लगता है जैसे पंजाब को अपने ही हाल पर छोड़ दिया गया है। ■

प्रकाशकः **पवन कुमार बंसल**; संपादकः **राजेश झा**; **पवन कुमार बंसल द्वारा दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड,** हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली- 11002 की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रित। दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 और द्वारा आर. सी. मल्होत्रा, दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से मुद्रित।

इस तरह खतरे में डाल रहे बाघों की जिंदगी

हमारे बाघ अभ्यारण्यों का सोचा-समझा विनाश उन कानूनों और संस्थाओं का मजाक है जो उनकी रक्षा के लिए बनाए गए हैं

रश्मि सहगल

दिखावा ज्यादा बाघ संरक्षण को लेकर सरकार बातें बहुत करती है, पर असलियत कुछ और ही कहानी कहती है।

क्या हम अपने उन बाघ अभयारण्यों को भी खो देना चाहते हैं जो हमारे पास देश के बचे-खुचे प्राचीन जंगलों की अंतिम निशानी के तौर पर शेष हैं? लगता तो ऐसा ही है। मोदी सरकार ने खनन और सड़कों के नाम पर जैसी हरी झंडी दिखाई है, उसमें अब बाघ अभयारण्यों का विभाजन भी जुड़ गया है, जिनका मकसद तथाकथित 'विकास' परियोजनाओं से वन क्षेत्रों की रक्षा करना था। हमारे वन संरक्षण और वन्यजीव जैव विविधता अधिनियमों को धता बताने वाले सरकार के ये फैसले न सिर्फ हमारी संस्थाओं, हमारे कानूनों का भी खुला मखौल हैं।

बाघ संरक्षण के मामले में भारत की सबसे बड़ी उपलब्धि बाघों की आबादी को उनके प्राकृतिक भौगोलिक क्षेत्र में सफलतापूर्वक बनाए रखना है। लेकिन हमारे अधिकांश बाघ अभयारण्य और पशुविहार जिस तरह रैखिक परियोजनाओं (रेलवे लाइन, नहर, सड़क, हवाई अड्डे) की भेंट चढ़े, उससे हमारे वनक्षेत्र सीमित हुए और नतीजा है कि हमारे वन्यजीव स्वतंत्र रूप से विचरण नहीं कर सकते। सब जानते हैं कि राजस्थान के सरिस्का टाइगर रिजर्व और मध्य प्रदेश के पन्ना टाइगर रिजर्व- दोनों ने ही अवैध शिकार के कारण अपनी बाघ आबादी किस तरह गंवा दी थी। 2010 में, तत्कालीन पर्यावरण मंत्री जयराम रमेश ने बाघों की आबादी बहाल करने के लिए रणथंभौर से पांच बाघ सरिस्का भिजवाए थे। तेरह साल बाद, अब जब बाघों की आबादी स्थिर हुई, तब भी सरिस्का और आसपास अवैध खनन बदस्तूर जारी है।

कारण स्पष्ट हैं। अरावली पर्वत श्रृंखला स्थित यह रिजर्व संगमरमर, चूना पत्थर, डोलोमाइट, मेसोनिक स्टोन जैसी खनिज संपदा से समृद्ध है। खनन राजस्थान के राजस्व का दूसरा सबसे बड़ा स्रोत है और सरिस्का तथा इसके आसपास का अवैध खनन हर रोज लगभग दो करोड़ रुपये राजस्व पैदा करता है। पर्यावरण, वन और जलवायु परिवर्तन के केन्द्रीय और राज्य मंत्री क्रमशः भूपेंद्र यादव और संजय शर्मा अलवर से आते हैं और स्थानीय लोगों के अनुसार दोनों के ही खनन लॉबी से घनिष्ठ संबंध हैं। आश्चर्य नहीं कि पर्यावरण मंत्री ने रिजर्व की सीमाओं के पुनर्निधारण, बाघ संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्र टहला तहसील में लगभग 50 वर्ग किलोमीटर खनिज युक्त, पहाड़ी इलाके को काटने और इसके स्थान पर आसपास के बफर जोन से 91 वर्ग किलोमीटर कम संवेदनशील भूमि लाने का प्रस्ताव दे दिया है।

सीमाओं को 'युक्तिसंगत' बनाने के इस इरादे से सरिस्का के एक किलोमीटर दायरे में आने वाली वे 47 खदानें फिर सक्रिय हो जाएंगी और उनकी बफर जोन में वापसी हो जाएगी, जिन्हें सुप्रीम कोर्ट ने मई 2024 में बंद करा दिया था। स्थानीय वनपालों की चेतावनी है कि तहला तहसील की परिधीय पहाड़ियां बाहर करने से बाघों की आवाजाही के लिए महत्वपूर्ण आंतरिक गलियारे कट जाएंगे।

सरिस्का एकमात्र बाघ अभयारण्य नहीं है जिसकी सीमा 'तर्कसंगत' बनाई जा रही है। भारतीय वन्यजीव संस्थान ने एक 'समग्र योजना' बनाई है जिसके तहत राजाजी टाइगर रिजर्व के चारों ओर 10 किलोमीटर के दायरे को वन्यजीव गलियारों की सुरक्षा और खनन तथा संसाधन निष्कर्षण गतिविधियों के लिए फिर से तैयार किया गया है। शराब के बाद, खनन उत्तराखंड की आय का मुख्य स्रोत है। शायद धपहली बार हुआ कि राजाजी टाइगर रिजर्व के हिस्से लैंसडाउन वन प्रभाग के निकट मानव-वन्यजीव संघर्ष कम करने के लिए एक दीवार बनाई गई है। अब कोई कैसे याद दिलाए कि हाथी, बाघ और तेंदुए दीवारों से नहीं डरा करते?

पर्यावरणविद रीना पॉल कहती हैं, "सैकड़ों करोड़ खर्च कर बाघ अभयारण्य के चारों ओर दीवार खड़ी करना पहले कभी नहीं सुना। लेकिन यह जानते हुए भी कि इससे जानवरों का स्वतंत्र विचरण प्रभावित होगा, बाघ अभयारण्य के चारों ओर खनन की अनुमति भयावह है।"

उत्तराखंड राज्य वन्यजीव बोर्ड के मानद सदस्य राजीव मेहता ने बताया, "दो हफ़्ते पहले, मैंने मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी की अध्यक्षता में राज्य वन्यजीव बोर्ड की बैठक में भाग लिया था। राजाजी टाइगर रिजर्व में लगातार हो रहे सड़क निर्माण पर चर्चा या जॉली ग्रांट एयरपोर्ट का विस्तार करने के लिए इस रिजर्व से अतिरिक्त भूमि क्यों ली जा रही है, इस पर ध्यान केन्द्रित करने के बजाय, मुख्यमंत्री की रुचि दो इतर मुद्दों में रहीः नदियों से निकाले जा रहे पत्थरों की मात्रा को तत्काल दोगुना करने की जरूरत और ऋषिकेश के पास शिव मंदिर के लिए रिजर्व से होकर गुजरने वाली सिंगल लेन सड़क को फोरलेन में बदलना! क्यों? ताकि तीर्थयात्री ज्यादा से ज्यादा आ सकें, वन्यजीवों की परेशानी की किसे चिंता है।"

> देश ही नहीं, शायद धरती पर ही पहली बार हुआ है कि राजाजी टाइगर रिजर्व के हिस्से लैंसडाउन वन प्रभाग के पास मानव-वन्यजीव संघर्ष कम करने के लिए सैकड़ों करोड़ खर्च कर एक दीवार बनाई गई है। अब सरकार को कोई कैसे समझाए कि हाथी, बाघ और तेंदुए दीवारों से नहीं डरा करते?

सबसे बड़ा आपराधिक आचरण तो केन-बेतवा नदी जोड़ो परियोजना का उद्घाटन था, जिसके कारण पन्ना टाइगर रिजर्व का 80 प्रतिशत हिस्सा जलमग्न हो जाएगा जो बाघों आदि के अस्तित्व के लिए आवास नष्ट करने का कारण बनेगा। इसमें 23 लाख से अधिक पेड़ों की कटाई भी शामिल है, जो पूरा पारिस्थितिकी तंत्र नष्ट करने को पर्याप्त है।

पन्ना में बाघों की आबादी 2009 तक खत्म हो चुकी थी। यहां भी जयराम रमेश की पहल पर बाघ फिर से लाए गए। 1995 से पन्ना में रहने वाले वैज्ञानिक और वन्यजीव कार्यकर्ता डॉ. रघु चुंडावत कहते हैं कि 45,000 करोड़ की केन-बेतवा इंटरलिंकिंग परियोजना एक "खराब तरीके से तैयार" परियोजना है, जिसकी हमें भारी कीमत चुकानी पड़ेगी।चुंडावत कहते हैं, "सरकार दावा करती है कि केन नदी में अतिरिक्त पानी है जबकि बेतवा में कम, इसलिए पानी एक से दूसरी नदी में जाना चाहिए। यह सरासर झूठ है। उनकी गणना 40 साल पहले वाले नदी प्रवाह आंकड़ों पर आधारित है जो अब मान्य नहीं है। फिर भी, वे इसे सार्वजनिक करने से यह कहते हुए इनकार करते हैं कि 'अंतरराष्ट्रीय जल डेटा' साझा नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों नदियां गंगा में बहती हैं, और जो बांग्लादेश में पद्मा में मिलती है।" वह कहते हैं- "पन्ना क्षेत्र में कम पानी की जरूरत वाली गेहूं और चना जैसी फसलें होती हैं, जबकि बेतवा क्षेत्र में गन्ने जैसी अधिक पानी की जरूरत वाली फसलें होती हैं। अत्यधिक उपयोग के कारण मध्य प्रदेश का नब्बे प्रतिशत हिस्सा जल संकट से जूझ रहा है। अगर यही रफ़्तार रही तो डर है कि पूरा राज्य ही जल संकट का शिकार न हो जाए।"

बेतवा नदी पर पहले ही सात बांध बन चुके हैं। ऊपर की ओर नए बांधों की जैसी योजना है, मौजूदा संरचनाएं अब उत्तर प्रदेश को पानी देने में सक्षम नहीं रह जाएंगी। सरकार को बस एक ही बात समझ में आती है, 'केन का पानी बेतवा की ओर मोड़ना'। वह भूल जाते हैं कि केन अब बारहमासी नदी नहीं रही। जल विशेषज्ञ तो अब एक और सवाल पूछने लगे हैंः इतनी बड़ी इंटरलिंकिंग परियोजना का समर्थन करने के लिए अतिरिक्त पानी आख़िर आएगा कहां से? चुंडावत मौजूदा हालात के लिए सीधे वन विभाग को दोषी ठहराते हैं।

वह कहते हैं, "किसी भी प्रस्ताव की फाइल सबसे पहले वन विभाग के अधिकारियों के सामने जाती है। एक फॉर्म है- फॉर्म तीन, जिसे संबंधित वन अधिकारी को भरना होता है, जिसमें स्पष्ट रूप से बताना होता है कि वे किसी परियोजना को मंजूरी दे रहे हैं या नहीं। उन्हें बस एक शब्द लिखने की जरूरत होती हैः 'नहीं'। वन विभाग के पास यह अधिकार है। अगर अधिकारी ने 'नहीं' कह/लिख दिया होता, तो ज्यादा से ज्यादा बुरा क्या होता? स्वार्थी उद्देश्यों के लिए, बाघ अभयारण्य को नष्ट किया जा रहा है। यह भी कोई साधारण बाघ अभयारण्य नहीं है, यूनेस्को की विश्व धरोहर स्थल है!"

सेवानिवृत्त वन अधिकारी प्रकृति श्रीवास्तव बाघों की आबादी पर जलवायु परिवर्तन के असर से चिंतित हैं, जैसा कि बंगाल की खाड़ी क्षेत्र में रॉयल बंगाल टाइगर्स की सबसे प्रमुख रिहाइश सुंदरबन में दिखा। बाघ अपने रिहाइशी इलाके को लेकर उग्र होने की हद तक संवेदनशील होते हैं; और लगातार बढ़ते समुद्री जल स्तर के कारण आवास के नुकसान ने घातक क्षेत्रीय संघर्ष को जन्म दिया है। अवैध शिकार और बढ़ते मानव-पशु संघर्ष भी उनके अस्तित्व के लिए खतरा हैं।

लेकिन इस वजह से वन विभाग और ज्यादा सनक भरी योजनाओं को मंजूरी देने पीछे हटा हो, ऐसा नहीं है। 3,600 वर्ग किलोमीटर के नागार्जुनसागर-श्रीशैलम टाइगर प्रोजेक्ट दो हिस्सों में बांट दिया गया है- इसका आधा हिस्सा आंध्र प्रदेश को और दूसरा आधा हिस्सा (महबूबनगर और नलगोंडा में) तेलंगाना को मिलेगा। छह साल पहले, सरकार ने नागार्जुनसागर जलाशय से सिर्फ 1.6 किलोमीटर दूर पेद्दागट्टू-लम्बापुर में यूरेनियम खनन स्थल का प्रस्ताव रखा था, लेकिन भारी जन विरोध के कारण इसे टाल दिया गया।

उत्तराखंड सरकार का एक और विनाशकारी कदम कोटद्वार से रामनगर तक कंडी रोड बनाने जैसा खतरनाक इरादा है, जो कॉर्बेट नेशनल पार्क को बांट देगा। राज्य के पूर्व वन मंत्री हरक सिंह रावत ने केन्द्र को याचिका भी दी थी, जिसमें जोर देकर इस सड़क के निर्माण को 'रक्षा जरूरत' बताया था। हालांकि सुप्रीम कोर्ट ने इसे खारिज कर दिया, लेकिन चर्चा है कि सरकार वोट बैंक और अत्यंत शक्तिशाली ठेकेदार लॉबी को खुश करने के लिए इसे पुनर्जीवित करने पर उतारू है। ■

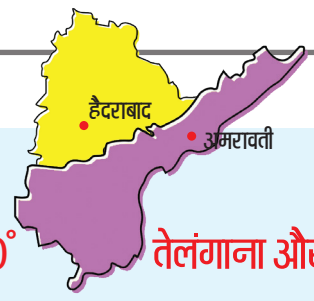

राज्य 360° तेलंगाना और आंध्र प्रदेश

निकाय चुनाव पूर्व बदली रणनीति और आम का बिगड़ा स्वाद

कांग्रेस न सिर्फ पिछड़ी जातियों के बीच आधार बढ़ाने की कोशिश में है, बल्कि उत्तरी तेलंगाना में भी पकड़ वापस मजबूत बनाने में लगी है

जी. राम मोहन

क्या स्थानीय निकाय चुनावों में पिछड़े वर्गों के लिए 42 प्रतिशत आरक्षण का कांग्रेस का प्रयास तेलंगाना की राजनीति का गेम चेंजर बनेगा? हालिया जाति सर्वेक्षण से जुड़े इस कदम का मकसद राहुल गांधी के 'जितनी आबादी, उतना हक' (जनसंख्या के अनुपात में अधिकार) वाला वादा पूरा करना है, जिसे लोग 2023 के कामारेड्डी घोषणापत्र के रूप में याद करते हैं।

कांग्रेस न सिर्फ पिछड़ी जातियों के बीच अपना आधार बढ़ाने की कोशिश में है, बल्कि उत्तरी तेलंगाना में भी अपनी पकड़ वापस मजबूत करना चाहती है, जो पिछले लोकसभा चुनावों में उसके हाथ से फिसल गया। 2023 के विधानसभा चुनावों में उत्तरी तेलंगाना जिलों से आठ सीटें जीतने वाली भाजपा ने 2024 में आठ लोकसभा सीटों पर आश्चर्यजनक जीत हासिल कर सबको चौंका दिया था।

जाति सर्वेक्षण में 3.54 करोड़ से ज्यादा लोगों को शामिल किया गया। इसके अनुसार, राज्य में पिछड़ी जातियों (मुस्लिम पिछड़ी जातियां भी शामिल) की आबादी 56.33 प्रतिशत है। और बारीकी से देखें तो सर्वेक्षण बताता है कि हिन्दू पिछड़ी जातियों की आबादी 46.25 प्रतिशत है, जबकि मुस्लिम पिछड़ी जातियों की आबादी 10.08 प्रतिशत। अनुसूचित जाति 17.43 प्रतिशत, अनुसूचित जनजाति 10.45 प्रतिशत और अन्य का प्रतिशत 13.31 है, जबकि मुस्लिम पिछड़ी जातियां कुल आबादी का 2.48 प्रतिशत हैं।

हालांकि, इस सर्वेक्षण से असहमत भारत राष्ट्र समिति (बीआरएस) का दावा है कि उसके द्वारा किया गया समग्र कुटुंब सर्वेक्षण (एसकेएस) सच्चाई के ज्यादा करीब है। अलग बात है कि बीआरएस के सत्ता में रहने के दौरान एसकेएस कभी विधानसभा में पेश नहीं किया गया।

सिंचाई मंत्री एन. उत्तम कुमार रेड्डी ने विधानसभा में कहा कि अप्रकाशित एसकेएस के अनुसार पिछड़ी जातियों की आबादी 51 प्रतिशत और अन्य की 21 प्रतिशत थी।

राज्य सरकार ने रेवंत रेड्डी के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार द्वारा किए गए सर्वेक्षण पर किसी भी संदेह की गुंजाइश को खारिज कर दिया। 9 नवंबर से 25 दिसंबर 2024 के बीच बड़े पैमाने पर हुए सर्वेक्षण के काम में लगभग 94,261 लोग शामिल थे और इसके डेटा का हैदराबाद स्थित सेंटर फॉर इकोनॉमिक सोशल स्टडीज द्वारा स्वतंत्र रूप से विश्लेषण किया गया था।

> बीआरएस के कमजोर होने और भाजपा के उदय के साथ, सार्थक प्रतिनिधित्व के सहारे पिछड़ी जातियों के वोट एकजुट करने का कांग्रेस का प्रयास एक राजनीतिक मास्टरस्ट्रोक हो सकता है, जो इस बात पर निर्भर करेगा कि आने वाले महीनों में वह चुनावी बाधाओं से किस तरह निपटती है

एक राजनीतिक विश्लेषक ने (नाम न बताने की शर्त पर) कहा, "पिछड़ों (बीसी) का समर्थन तेलुगु देशम पार्टी से खिसक कर भाजपा को चला गया। इसका बड़ा कारण यह भी रहा कि बीआरएस अध्यक्ष के. चंद्रशेखर राव ने उन्हें कभी अपना निर्वाचन क्षेत्र माना ही नहीं। स्वाभाविक रूप से इससे निराश पिछड़ों (मुख्य रूप भूमिहीन) के लिए वफादारी बदलने का रास्ता खुल गया।"

लोकसभा चुनावों में कांग्रेस को दक्षिण तेलंगाना से आठ सीटें मिलीं, जबकि भाजपा ने भी उत्तर तेलंगाना से आठ सीटें जीतीं। 2023 में 39 विधानसभा सीटें जीतने वाली बीआरएस संसदीय चुनावों में एक भी सीट नहीं जीत पाई। इस राजनीतिक विश्लेषक के अनुसार, कांग्रेस अब अगले दौर में सत्ता में वापसी करने को तैयार दिख रही है।

पिछड़ा वर्ग (बीसी) से आने वाले निजामाबाद के बी. महेश कुमार गौड़ को तेलंगाना प्रदेश कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष बनाना रणनीतिक कदम है। मंत्रिमंडल विस्तार में विवेक वेंकटस्वामी, अदलुरी लक्ष्मण और आदि श्रीनिवास को शामिल किया गया, जो सभी उत्तरी तेलंगाना से आते हैं। इस क्षेत्र के मौजूदा मंत्रियों डी. श्रीधर बाबू और पोन्नम प्रभाकर के साथ इनका शामिल होना अनायास नहीं है।

कांग्रेस एमएलसी अद्दांकी दयाकर कहते हैं, "दक्षिण तेलंगाना में कांग्रेस शुरू से ही मजबूत थी। 2023 के चुनाव ने इसे उलट दिया। उत्तरी तेलंगाना बीआरएस का गढ़ था, लेकिन उनके वोट भाजपा को हस्तांतरित हो गए। बीआरएस और भाजपा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और हमारा प्रभाव बढ़ रहा है और हमारी योजनाओं का अच्छा असर है।"

आंध्र प्रदेश और तेलंगाना में पिछड़ी जातियों को ए, बी, सी और डी श्रेणियों में वर्गीकृत करने का ऐतिहासिक रूप से सबसे वैज्ञानिक तरीका अपनाया गया है, जिसे 1969 में नियुक्त अनंतरामन आयोग ने अंजाम दिया था।

हैदराबाद विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान विभाग के प्रो. ई. वेंकटेश कहते हैं कि आजादी के बाद दो दशकों तक संयुक्त आंध्र प्रदेश में पिछड़ी जातियों के लिए कोई आरक्षण नहीं था। "1953 में गठित काका कालेलकर आयोग ने महसूस किया कि जाति पिछड़ेपन का निर्णायक कारक नहीं होनी चाहिए और इस मुद्दे पर फैसले राज्य स्तर पर लिए जाने चाहिए। अनंतरामन आयोग ने 1970 में अपनी रिपोर्ट पेश की और पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण 1972 में लागू हुआ।"उस्मानिया आर्ट्स कॉलेज के उप-प्राचार्य प्रोफेसर राम शेफर्ड भीनावेनी का कहना है कि ईसाइयों और मुसलमानों के लिए आरक्षण धर्म के बजाय उनकी सामाजिक स्थिति और पेशे के आधार पर मिलना चाहिए। 23 जून 2025 को तेलंगाना उच्च न्यायालय ने स्थानीय निकाय चुनाव (जो फरवरी 2024 में होने थे) की मांग वाली जनहित याचिका पर अपना फैसला सुरक्षित रख लिया है। राज्य के वकील ने कहा कि आरक्षण तय की कवायद पूरा करने के लिए सरकार को समय चाहिए। बीआरएस के कमजोर होने और भाजपा के उदय के साथ, सार्थक प्रतिनिधित्व के सहारे पिछड़ी जातियों के वोट एकजुट करने का कांग्रेस का प्रयास मास्टरस्ट्रोक हो सकता है।

दक्षिण भारत में आम का संकट

भारत के सबसे बड़े आम प्रसंस्करण केन्द्रों में से एक आंध्र प्रदेश के चित्तूर जिले के आम उत्पादक किसान परेशान हैं। सबसे बड़ा संकट यहां के प्रसिद्ध 'तोतापुरी' आमों पर दिखा और सड़कों के किनारे इनके ढेर लग गए। यह हालात 1,500 करोड़ रुपये के आम पल्प (गूदा) उद्योग द्वारा 2023 और 2024 के लिए लगभग 1.5 लाख टन बचे हुए स्टॉक का हवाला देते हुए फल खरीदने से इनकार करने के कारण उत्पन्न हुए हैं।

चित्तूर जिला फल प्रसंस्करण संघ के सचिव के. गोवर्धन बॉबी के अनुसार, "लाल सागर के रास्ते व्यापार मार्गों में आया व्यवधान और वैकल्पिक मार्गों की बढ़ती लागत के कारण यह संकट हुआ।" टेट्रापैक जूस निर्माताओं ने आम के गूदे का इस्तेमाल आधा यानी 18 से 9 प्रतिशत कर दिया है, जिससे स्थिति और बिगड़ गई है।

चित्तूर में 2,12,000 लाख एकड़ में तोतापुरी आम की खेती होती है। इस साल फरवरी में पड़ी शुरुआती गर्मी का फसलों पर प्रतिकूल असर पड़ा। तिरुपति के वाईएसआर बागवानी विश्वविद्यालय के प्रो. डी. श्रीनिवासुलु रेड्डी बताते हैं, "पेड़ों में फूल दिसंबर में आने चाहिए, लेकिन इस बार इसमें गड़बड़ हो गई। शुरुआती गर्मी के कारण फूल भी झड़ गए, जिसका असर फसल पर पड़ना ही था।"

ऐसे में आंध्र सरकार ने एक मूल्य समर्थन योजना तैयार की जिसके तहत पल्प बनाने वाली कंपनियों को 8 रुपये प्रति किलो का भुगतान करना है जबकि राज्य सरकार प्रति किलो 4 रुपये देगी। इसी के मद्देनजर तमिलनाडु और कर्नाटक से आने वाले तोतापरी आमों के लिए राज्य की सीमाएं भी 7 जून को बंद कर दी गईं।

जवाब में, कर्नाटक की मुख्य सचिव शालिनी रजनीश ने अपने आंध्र प्रदेश समकक्ष के. विजयानंद को 10 जून को एक पत्र लिखकर इसके कारण कर्नाटक के आम किसानों को होने वाली परेशानी से अवगत कराया, जो काफी हद तक चित्तूर स्थित प्रसंस्करण इकाइयों पर निर्भर हैं। उन्होंने कहा कि इससे सहकारी संघवाद की भावना कमजोर होती है और प्रतिशोध की भावना पैदा होने का खतरा है।

हालात बता रहे हैं कि अगर शीघ्र समाधान नहीं किया गया तो तोतापुरी आम का संकट न सिर्फ आंध्र प्रदेश, बल्कि पूरे दक्षिण भारत का जायका खराब कर सकता है। ■

संडे नवजीवन
रविवार, 06 जुलाई, 2025 | www.navjivanindia.com

परमाणु रंगभेद

एनपीटी शासन में निहित दोहरा मापदंड देशों को अपनी-अपनी परमाणु निवारक क्षमता हासिल करने के लिए प्रेरित कर सकता है

अशोक स्वैन

इजरायल ने 13 जून 2025 को अचानक ईरान पर हमला बोल दिया। इसमें कथित परमाणु ठिकानों के अलावा नागरिक क्षेत्रों और यहां तक कि सरकारी प्रसारण केन्द्र को भी निशाना बनाया गया। चंद दिनों बाद अमेरिका ने भी हमला किया और राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप ने दावा किया कि इसमें ईरान के परमाणु ठिकानों को 'नेस्तनाबूद' कर दिया गया। हमलों में सैकड़ों ईरानी मारे गए और यह इलाका पूर्ण युद्ध के कगार पर पहुंच गया।

अगर मध्य पूर्व के संकट ने बमों और मिसाइलों की झड़ी से भी ज्यादा खतरनाक किसी चीज को उजागर किया है, तो वह है वैश्विक परमाणु व्यवस्था का दरकना। लंबे समय से अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा सुनिश्चित करने वाली ताकत के तौर पर अपने को पेश करने वाले अमेरिका के बर्ताव ने परमाणु अप्रसार संधि (एनपीटी) व्यवस्था में निहित पाखंड और अन्याय को उजागर कर दिया है।

गौरतलब है कि ईरान ने एनपीटी पर दस्तखत कर रखा है। तमाम तरह के आरोपों और राजनीतिक षड्यंत्रों के बाद भी इसने अपनी परमाणु सुविधाओं की अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आईएईए) द्वारा समय-समय पर निरीक्षण की अनुमति दी। जबकि इजरायल ने एनपीटी पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं और मानते हैं कि उसके पास परमाणु हथियारों को बड़ा जखीरा है जिसे उसने चोरी-छिपे विकसित किया और 'पेचीदा परमाणु' नीतियों की आड़ में जांच से बचा रहा। अब, इजरायल और उसके संरक्षक, अमेरिका दोनों ने एक ऐसे देश पर बमबारी की है जो एनपीटी व्यवस्था के साथ सहयोग कर रहा था। यह आक्रामकता नहीं, अंतरराष्ट्रीय कानून के तहत परमाणु समानता के विचार की ताबूत में अंतिम कील है।

1968 में हस्ताक्षरित एनपीटी मुख्यतः तीन बातों पर टिकी थीः परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकना, निरस्त्रीकरण को बढ़ावा देना और परमाणु ऊर्जा का शांतिपूर्ण उपयोग सुनिश्चित करना। कहने को तो इसने परमाणु अस्त्र विहीन दुनिया का वादा किया लेकिन व्यवहार में, इसने वैश्विक पदानुक्रम को संस्थागत रूप दे दिया। केवल पांच देशों अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन को परमाणु हथियार रखने की इजाजत थी। बाकी देशों से अपेक्षा की गई कि वे परमाणु हथियार बाने से दूर रहें और संपन्न देश एक दिन अपने परमाणु हथियारों से तौबा कर लेंगे। वह निरस्त्रीकरण कभी नहीं हुआ। बल्कि उन पांच देशों ने अपने परमाणु शस्त्रागारों का आधुनिकीकरण किया और डिलीवरी क्षमताओं का विस्तार। इस बीच, एनपीटी के ढांचे से अलग नए परमाणु देश उभरे-भारत, पाकिस्तान, उत्तर कोरिया और इजरायल। कुछ को अमेरिका से मौन स्वीकृति या फिर अंधा समर्थन प्राप्त है।

दशकों से अमेरिका ने 'परमाणु पुलिसकर्मी' की भूमिका निभाई। तय किया कि किसके पास किस तरह के हथियार हो सकते हैं। लेकिन इसके मानदंडों का वैधता, पारदर्शिता या अंतरराष्ट्रीय मानदंडों से कोई लेना-देना नहीं है - यह सब रणनीतिक समीकरण से जुड़ा है। अमेरिका अक्सर परमाणु प्रसार को सुरक्षा जोखिम के रूप में नहीं बल्कि राजनीतिक लिटमस टेस्ट के रूप में देखता है। मित्र देशों को मुफ्त पास मिलता है। ईरान, इराक, लीबिया या उत्तर कोरिया जैसे विरोधी शासनों को जोर-जबरदस्ती, प्रतिबंधों, यहां तक कि युद्ध झेलना पड़ता है। नियम-कायदों का चुनिंदा तरीके से व्यवहार में उतारना अमेरिकी विदेश नीति की खासियत है।

ईरान का मामला इसी नीति को बेनकाब करता है। हाल के सालों में आईएईए के बार-बार किए गए आकलन में परमाणु सशस्त्रीकरण कार्यक्रम का कोई निश्चित सबूत नहीं मिलने के बावजूद ईरान को दुष्ट देश मान लिया गया। अमेरिका 2018 में जेसीपीओए (ज्वाइंट कम्प्रहेंसिव प्लान ऑफ एक्शन) से अलग हुआ जबकि तब ईरान इसका पालन कर रहा था। फिर ईरान के खिलाफ आर्थिक युद्ध छेड़ा जाता है, स्टक्सनेट जैसे साइबर हमले किए जाते हैं, उसके परमाणु वैज्ञानिकों की हत्या की जाती है और फिर सीधे सैन्य हमला कर दिया जाता है। सिपरी (स्टॉकहोम इंटरनेशनल पीस रिसर्च इंस्टीट्यूट) के मुताबिक इस दौरान इजरायल के अघोषित शस्त्रागार - 90 परमाणु हथियार - पर कोई बात नहीं होती और न ही पश्चिमी मीडिया कुछ कहता है।

ग्लोबल साउथ में कई देश एनपीटी को एक औपनिवेशिक औजार मानते हैं जो परमाणु अभिजात वर्ग की तो ताकत बनाए रखता है जबकि परमाणु हथियार पाने की इच्छा रखने वालों को दंडित करता है। इसका साफ उदाहरण हैः ईरान पर संदिग्ध उल्लंघन के लिए बमबारी की जाती है जबकि इजरायल को राजनयिक और मीडिया कवरेज के अलावा अरबों डॉलर की वित्तीय और सैन्य मदद दी जाती है। हमलों में अमेरिका का इजरायल का साथ देना एक और संदेश देता हैः एनपीटी उनकी रक्षा नहीं करता जो इसका पालन करते हैं, यह उन्हें दंडित करता है जो इसके प्रवर्तकों के वर्चस्व को चुनौती देते हैं।

एक अहम सवाल- क्या होगा अगर दूसरी वैश्विक शक्तियां भी उन्हीं नियमों के साथ खेलना शुरू कर दें? ऐसे भविष्य की कल्पना करें जब चीन अकेले या रूस के साथ मिलकर अमेरिका समर्थित किसी देश के बारे में घोषणा करे कि उसका परमाणु कार्यक्रम क्षेत्रीय स्थिरता के लिए खतरा है। क्या होगा अगर वे दक्षिण कोरिया के परमाणु ढांचे पर बिना उकसावे हमला कर दें या ताईवान को इस बहाने निशाना बनाएं कि वह चोरी-छिपे परमाणु हथियार बना रहा है? क्या होगा अगर वे सऊदी या जापानी परमाणु ठिकानों पर यह तर्क देते हुए बमबारी कर दें कि ये देश अमेरिकी गठबंधन के कारण जांच से बच रहे हैं? क्या होगा जब चीन और रूस अमेरिकी सहयोगियों के साथ वैसा ही व्यवहार करना शुरू कर देंगे जैसा अमेरिका और इजरायल अपने विरोधियों के साथ करते हैं?

यह महज अटकलबाजी नहीं। चीन ने पहले ही एनपीटी के पक्षपात पर असंतोष जताया है और अपने परमाणु हथियार भंडार को बेहतर करने पर भारी निवेश किया है। रूस भी रणनीतिक और नैतिक आधार पर पश्चिमी वर्चस्व को चुनौती देने के तरीके खोज रहा है। अगर ये देश वाशिंगटन के चुनिंदा प्रवर्तन मॉडल को अपनाते हैं, तो इसका नतीजा यह होगा कि जो कुछ भी परमाणु संयम रह गया है, वह काफूर होता चला जाएगा। एनपीटी का कानूनी और नैतिक अधिकार बिखर जाएगा। परमाणु हथियार क्षमता हासिल करने का हर इच्छुक देश इस आधार पर खुद को हथियारबंद करने की होड़ में जुट जाएगा कि समझौते किसी की रक्षा नहीं करते, केवल परमाणु हथियार ही हमलों को रोक सकते हैं।

मध्य पूर्व में इजरायल का परमाणु एकाधिकार लंबे समय से उसके आक्रामक क्षेत्रीय रुख का आधार रहा है। तथाकथित 'बिगिन डॉक्ट्रिन' के तहत इजरायल को किसी भी देश पर सामूहिक विनाश के हथियार विकसित करने के संदेह पर हमला करने का अधिकार है। इस सिद्धांत के कारण 1981 में इराक के ओसिरक रिएक्टर और 2007 में सीरिया की संदिग्ध परमाणु ठिकाने पर बमबारी की गई। ईरान एक दशक से ऐसे ही खतरे में है। लेकिन इजरायल के एकाधिकार को कैसे वाजिब ठहरा सकते हैं? अगर अस्तित्व पर संभावित खतरे और शत्रुतापूर्ण पड़ोस परमाणु हथियार विकसित करने के वैध आधार हैं, तो यह तर्क ईरान पर क्यों लागू नहीं होता जिसने प्रतिबंधों, साजिशों और अब हवाई हमलों को सहा है?

किसी भी देश को संधियों या निरीक्षणों पर भरोसा क्यों करना चाहिए, जब अनुपालन से सुरक्षा नहीं मिलती और अवज्ञा को पुरस्कृत किया जाता है? सऊदी अरब ने 2023 में ही संकेत दे दिया है कि अगर ईरान परमाणु हथियार हासिल करता है तो वह भी परमाणु हथियार बनाने की कोशिश करेगा। कई परमाणु शक्तियों वाले मध्य पूर्व में परमाणु टकराव की आशंका रही है जिसे मौजूदा हालात वास्तविक बनाने का जोखिम पैदा कर रहे हैं।

एक सवाल और है- कौन तय करेगा कि कौन देश परमाणु हथियार रख सकते हैं? अगर जवाब सिर्फ अमेरिका और उसके सहयोगी हैं, तो एनपीटी संधि नहीं बल्कि वर्चस्व का लाइसेंस है। साथ ही, अगर बम उन देशों पर गिरते हैं जो नियमों पर चलने की कोशिश कर रहे हैं, तो दूसरे भी निवारक उपाय खोजने को बाध्य होंगे।

ईरान ने संकेत दिया है कि वह एनपीटी से हट सकता है। संधि के अनुच्छेद-10 के तहत, इसके लिए तीन महीने का नोटिस जरूरी है। उत्तर कोरिया 2003 में एनपीटी से बाहर निकला था - लेकिन ईरान का बाहर निकलना बेहद अहम होगा। जब देश खुद के परमाणु निवारण के लिए अंतरराष्ट्रीय कानून से किनारा कर लें, तो दुनिया को तबाही के कगार पर ही माना चाहिए। ■

> कौन तय करेगा कि कौन देश परमाणु हथियार रख सकते हैं? अगर जवाब सिर्फ अमेरिका और उसके सहयोगी हैं, तो एनपीटी संधि नहीं बल्कि वर्चस्व का लाइसेंस है। अगर नियम मानने वालों पर बम गिरते हैं तो दूसरे भी निवारक उपाय खोजने को मजबूर होंगे

फोटो: गेटी इमेजेज

संबोधन विियना में अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आईएईए) के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की बैठक को संबोधित करते ईरान के राजदूत रेजा नजफी और दक्षिणी ईरान में फारस की खाड़ी के किनारे स्थित बुशहर परमाणु ऊर्जा संयंत्र।

अशोक स्वैन स्वीडन के उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं।

भारत का कूटनीतिक अलगाव चिंताजनक

भारत में जो भी दावा किया जाए, यह साफ है कि पहलगाम के बाद हमारी रणनीतिक मुहिम मुंह के बल गिर पड़ी है, जबकि पाकिस्तान की स्थिति मजबूत हुई है

आशीष रे

पाकिस्तान ने 1 जुलाई को संयुक्त राष्ट्र की सबसे शक्तिशाली इकाई संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की कमान एक माह के लिए संभाल ली। इसमें कोई खास बात नहीं। सुरक्षा परिषद के मौजूदा 15 सदस्यों के बीच अंग्रेजी वर्णमाला क्रम में मासिक रोटेशन के अनुसार अध्यक्षता आती है।

हालांकि, जब पिछली बार सुरक्षा परिषद के गैर-स्थायी सदस्य के तौर पर भारत को अध्यक्षता मिली थी, तब यह जानते हुए भी कि यह इतना भी दुर्लभ 'सम्मान' नहीं है, नरेन्द्र मोदी सरकार के 'चीयरलीडर्स' ने जमकर नाचा-गाया था। भारत संयुक्त राष्ट्र का संस्थापक सदस्य है। वह 1945 में अपनाए गए संयुक्त राष्ट्र चार्टर के 50 मूल हस्ताक्षरकर्ताओं में है। मोदी के प्रधानमंत्री रहते अपनी बारी आने से पहले भारत कम-से-कम सात बार सुरक्षा परिषद का गैर-स्थायी सदस्य रह चुका है।

वैसे, पाकिस्तान की कूटनीतिक स्थिति का वास्तविक संकेतक जून 2024 के संयुक्त राष्ट्र महासभा के वोट (2025-26 के कार्यकाल के लिए यूएनएससी के गैर-स्थायी सदस्यों को चुनने के लिए) में उसे प्राप्त व्यापक समर्थन था। पाकिस्तान ने 193 में से 182 वोट हासिल किए और यह साफ बताता है कि मोदी सरकार की पाकिस्तान के प्रति दुश्मनी ने वैश्विक राय को प्रभावित नहीं किया है।

संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की अध्यक्षता के साथ-साथ पाकिस्तान तालिबान प्रतिबंध समिति का भी अध्यक्ष है और संयुक्त राष्ट्र आतंकवाद निरोधक समिति का उपाध्यक्ष। यह पाकिस्तान को अलग-थलग करने के बारे में भारत की शेखी की पोल खोल देता है और इसके साथ यह भी कि भारत जितना भी कहे कि पाकिस्तान आतंकवाद को प्रायोजित करने वाला देश है, दुनिया को यह बात हजम नहीं हुई। बल्कि अगर पाकिस्तान के सेना प्रमुख असीम मुनीर के समय-समय पर दिए जाने वाले भारत विरोधी बयान कोई संकेत हैं तो पाकिस्तान कश्मीर में भारत द्वारा लोकतंत्र, आजादी और मानवाधिकारों के कथित दमन को मंच देने की कोशिश कर सकता है।

भारत मुश्किल स्थिति में है, खास तौर पर इसलिए कि मोदी सरकार ने 22 अप्रैल को पहलगाम में हुए नरसंहार के बाद पाकिस्तान में कथित आतंकवादी केन्द्रों पर इस आधार पर मिसाइल हमला किया था कि इसमें पाकिस्तान की भूमिका थी, लेकिन वह पाकिस्तान के खिलाफ सबूत देने में नाकामयाब रही है। भारत के रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (रॉ) के पूर्व प्रमुख ए.एस. दुलत ने लंदन में कहा कि हो सकता है कि इसके पीछे आईएसआई का हाथ हो, लेकिन उन्होंने घरेलू आतंकवादियों का हाथ होने की संभावना से भी इनकार नहीं किया। इसमें शक नहीं कि पाकिस्तान इसी बात पर जोर देगा कि इसमें स्थानीय लोगों का ही हाथ था। वैसे, लगता नहीं कि सुरक्षा परिषद में वीटो के अधिकार वाला कोई भी देश भारत के खिलाफ प्रस्ताव का समर्थन करेगा, शायद चीन भी नहीं।

संभवतः भारतीय विदेश मंत्रालय के कहने पर भारतीय मीडिया ने वाशिंगटन में क्वाड विदेश मंत्रियों द्वारा हाल ही में दिए गए संयुक्त बयान को हाथों-हाथ लिया, जिसमें कहा गया हैः 'हम इस निंदनीय कृत्य (पहलगाम हमले) के अपराधियों, इसके षड्यंत्रकारियों और वित्तपोषकों को बिना किसी देरी के न्याय के कठघरे में लाने की अपील करते हैं और संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य देशों से अंतरराष्ट्रीय कानून और यूएनएससीआर (यूएनएससी प्रस्तावों) के तहत अपने दायित्वों के अनुसार, इस संबंध में सक्रिय सहयोग का आग्रह करते हैं।' सुर्खियों में आने से जो बात रह गई, वह यह है कि इसमें पाकिस्तान का कहीं कोई जिक्र नहीं। और यह बयान किसी मजबूत इरादे का इजहार नहीं बल्कि हत्यारों का पता लगाने में मदद के लिए भारत की ओर से अंतरराष्ट्रीय समुदाय से मदद की गुहार है।

कूटनीतिक संकेतक संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की वह बैठक जिसमें पाकिस्तान ने 193 में से 182 वोट हासिल कर संस्था की कमान संभाली।

व्यापार समझौता

इस अंक के प्रकाशित होने या डॉनल्ड ट्रंप द्वारा निर्धारित 9 जुलाई की समयसीमा से पहले शायद अमेरिका और भारत में व्यापार समझौते पर सहमति बन जाए। रॉयटर्स ने ट्रंप के हवाले से कहा, 'अभी, भारत इसमें किसी को प्रवेश नहीं देता। लेकिन मुझे लगता है कि भारत ऐसा करने जा रहा है। अगर वह ऐसा करता है तो हम बहुत कम टैरिफ वाला सौदा करने जा रहे हैं।' आम तौर पर इसका मतलब यह लगाया जा रहा है कि भारत अमेरिकी निर्यात पर टैरिफ कम करेगा ताकि ट्रंप की भारतीय निर्यात पर 26 फीसद टैरिफ लगाने की धमकी को टाला जा सके। व्यापार समझौते पर बात करने अमेरिका गए दल ने वाशिंगटन में अपना प्रवास बढ़ा दिया है ताकि एक आरंभिक, आंशिक व्यवस्था को अंतिम रूप दिया जा सके। यह साफ नहीं है कि अगर भारत अमेरिकी कृषि वस्तुओं के आयात पर टैरिफ कम करता है तो इसके बदले में क्या लाभ मिलेगा? वैसे, मीडिया की सुर्खियों में भारत की 'लाल रेखा' पर खासा शोर-शराबा हो रहा है (भारत मकई, सोयाबीन, डेयरी और इथेनॉल के आयात पर टैरिफ और गैर-टैरिफ- दोनों तरह के प्रतिबंध लगाता है जबकि अमेरिका चाहता है कि ये प्रतिबंध हटाए जाएं)।

ब्रिटेन अकेली बड़ी अर्थव्यवस्था है जिसने ट्रंप के साथ अनुकूल समझौता किया है जिससे उसकी कार, स्टील और एल्युमीनियम निर्यात को मदद मिलेगी और इसका फायदा टाटा के स्वामित्व वाली जगुआर और लैंड रोवर को भी मिलेगा। कनाडा, मैक्सिको, जापान और यूरोपीय संघ अब तक ट्रंप की धमकियों के खिलाफ मजबूती से खड़े हैं।

न्यूयॉर्क में मुस्लिम मेयर?

भारतीय मूल के जोहरान ममदानी के न्यूयॉर्क शहर के अगले मेयर चुने जाने की संभावना बन रही है। 33 साल के जोहरान ने डेमोक्रेटिक पार्टी के प्राथमिक मुकाबले में न्यूयॉर्क राज्य के पूर्व गवर्नर एंड्रयू कुओमो को हराकर अपनी पार्टी का उम्मीदवार बनने का अधिकार हासिल किया। क्वींस जिले से न्यूयॉर्क राज्य विधानसभा के सदस्य जोहरान को 56 फीसद वोट मिले।

24 जून को न्यूयॉर्क सिटी के मेयर के लिए हुए प्राइमरी में जीत के बाद जोहरान का तेजी से उदय हुआ है। न्यूयॉर्क के लिए उनकी परिवर्तनकारी दृष्टि और पहली बार मत देने वाले युवा वोटरों को प्रेरित करने, उन्हें संगठित करने और विविध समुदायों को जोड़ने की उनकी क्षमता ने उनके समर्थन में एक व्यापक, बहु-नस्लीय गठबंधन को आकार दिया है।

हालांकि वह जितनी तेजी से बढ़े हैं, उतनी ही तेजी से अपने लिए ताकतवर दुश्मन भी बना लिए हैं। डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट जोहरान का ट्रंप ने फौरन विरोध करते हुए उन्हें 'खालिस कम्युनिस्ट' करार दिया और धमकी दी कि अगर नवंबर में चुने जाने पर उम्मीदवार 'ठीक काम' नहीं करते हैं तो वह न्यूयॉर्क के लिए धन रोक देंगे। जोहरान फिल्म निर्माता मीरा नायर और भारतीय मूल के युगांडा के शिक्षाविद महमूद ममदानी के बेटे हैं। महमूद कोलंबिया विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान, नृविज्ञान और अफ्रीकी अध्ययन के प्रोफेसर हैं।

जोहरान ने वहनीयता के मुद्दे को उठाया है और मुफ्त बसें, चाइल्डकेयर, शहर द्वारा संचालित किराना स्टोर और सार्वजनिक सेवाओं के लिए कर सुधारों का वादा किया। उन्होंने फिलिस्तीनियों के साथ इजरायल के व्यवहार की निंदा की और वादा किया कि अगर इजरायल के प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू न्यूयॉर्क आए तो अंतरराष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय के गिरफ्तारी वारंट के अनुसार उन्हें गिरफ्तार किया जाएगा। ममदानी की वैचारिक मान्यताएं पीएम मोदी के विश्व नजरिये से अलग हैं। हालांकि, अगर वह मेयर बनते हैं, तो न्यायिक मामलों में उनका कोई सीधा अधिकार नहीं होगा, लेकिन ध्यान में रखना होगा कि खालिस्तान समर्थक सिख की हत्या की कथित भारतीय साजिश और गौतम अडानी के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोपों से जुड़े मामलों की सुनवाई न्यूयॉर्क शहर की अदालतों में हो रही है। ■

सब को गिना जाए, तभी जनगणना का मतलब

ऐतिहासिक रूप से जनगणनाओं में विकलांग लोगों की उपेक्षा की जाती रही है। इस बार न्याय की आशा, लेकिन चुनौतियां कम नहीं

पुनीत सिंह सिंघल

जनगणना लोगों की गिनती भर नहीं। यह योजना, नीति और राजनीतिक ताकत की बुनियाद है। क्या होगा जब यह गिनती अधूरी रह जाए, अनजाने में लाखों लोग इससे बाहर रह जाएं? भारत में विकलांग लोगों के संदर्भ में यह सवाल सैद्धांतिक नहीं, जीती-जागती सच्चाई है।

पिछली जनगणना 2011 में हुई थी और तब भारत की आबादी का सिर्फ 2.2 फीसद हिस्सा विकलांगता से पीड़ित पाया गया। यह आंकड़ा खासा विवादित है। विश्व बैंक और विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुमानों के मुताबिक, दुनिया में विकलांगता करीब 15 फीसद है। इसका मतलब है कि भारत में इनकी संख्या तकरीबन 20 करोड़ होनी चाहिए। यानी इतने लोग गिनती में आने चाहिए, लेकिन उनके सामने नहीं गिने जाने का जोखिम है। इतने बड़े पैमाने पर छूटने को संख्या में अंतर के रूप में नहीं बल्कि पहचान से महरूम किए जाने के तौर पर देखा जाना चाहिए।

जब विकलांगता को गायब कर दिया जाता है, तो वह महत्वहीन भी हो जाती है। न तो सेवाओं की योजना बनाते समय और न ही बुनियादी ढांचा खड़ा करते समय विकलांगों को ध्यान में रखा जाता है। और इस तरह, अधिकार आकांक्षाएं बनकर रह जाती हैं। स्कूल भवनों से लेकर जॉब पोर्टल तक हर जगह उन्हें नजरअंदाज किया जाता है और ऐसे बहिष्कार की शुरुआत गलत गिनती से होती है।

उपेक्षा का इतिहास

समस्या आज की नहीं। इसकी जड़ें औपनिवेशिक युग की उस सोच में हैं, जिसमें विकलांगता को एक दोष माना जाता था, ऐसा दोष जिसके प्रति दया का भाव रखना चाहिए। 1872 में हुई पहली भारतीय जनगणना में 'अशक्तता' पर अस्पष्ट प्रश्न रखे गए थे। परिणाम अविश्वसनीय आए और उसके बाद इन प्रश्नों को हटा दिया गया। दुनिया भर में बने माहौल के बाद 1981 की जनगणना में विकलांगता को फिर से शामिल किया गया, लेकिन परिभाषा संकीर्ण और कार्यप्रणाली तब भी खराब ही रही। विकलांगता की गणना दिखने वाले कारकों पर निर्भर करती है। अदृश्य और संज्ञानात्मक विकलांगताओं की अनदेखी कर दी जाती है। कलंकित होने के भय से परिवार के लोग भी इसे छिपाते हैं। अगर प्रमाणपत्र न हो तो ऐसे लोगों को विकलांग मानने से सिरे से खारिज कर दिया जाता है। बिना प्रमाण पत्र वाले कई लोगों को पूरी तरह से खारिज कर दिया जाता है। ये खामियां यूं ही नहीं। वे व्यवस्थात्मक पूर्वाग्रहों और धारणाओं को दिखाती हैं कि कौन गिनने लायक हैं। सरकार ने घोषणा की है कि 2026-27 की जनगणना में विकलांग व्यक्तियों के अधिकार अधिनियम, 2016 के तहत सूचीबद्ध सभी 21 श्रेणियां शामिल होंगी। कागज पर यह बड़ा बढ़िया दिखता है। अधिकारियों का कहना है कि वे कार्यात्मक प्रश्नों और सांकेतिक भाषा का उपयोग करेंगे, लेकिन इसे कैसे लागू किया जाएगा, इसके बारे में कोई जानकारी नहीं।

संरचनात्मक बदलावों के बिना यह बड़ी आसानी से महज दिखावा होकर रह जा सकता है- क्योंकि केवल अधिसूचना इसकी गारंटी नहीं है कि यह अभ्यास ईमानदारी से या जरूरत के मुताबिक किया जाएगा। अभी इस पर कोई स्पष्टता नहीं कि गणनाकर्ताओं को कैसे प्रशिक्षित किया जाएगा, सर्वेक्षणों में विकलांगता को कैसे परिभाषित किया जाएगा, या बिना प्रमाणपत्र वाले मामलों में क्या किया जाएगा। साफ है, गलत गिनती का वास्तविक खतरा अब भी बना हुआ है।

सबसे अहम है अमल

जनगणना प्रक्रिया को वास्तव में समावेशी बनाने के लिए, सरकार को विकलांग व्यक्तियों और उनके प्रतिनिधि संगठनों को प्रक्रिया के केन्द्र में रखना होगा। सिविल सोसाइटी समूहों, ऐक्टिविस्ट और अनुभवी लोगों को इस प्रक्रिया की योजना, प्रशिक्षण और समीक्षा के विभिन्न चरणों का हिस्सा बनाना चाहिए। गणनाकर्ताओं को न केवल परिभाषाओं पर बल्कि सही भाषा का उपयोग करने और गोपनीयता का सम्मान करने के तरीके पर भी प्रशिक्षित करने की जरूरत होगी। उन्हें ऐसे प्रश्न पूछने के लिए निर्देश और प्रशिक्षण- दोनों की जरूरत होगी, जिसे साबित करना न पड़े। जैसेः 'क्या आपको देखने, याद रखने, सुनने या चलने में कठिनाई होती है?' किसी व्यक्ति के 'विकलांग' होने के बारे में पूछने की तुलना में इस तरह से बेहतर जवाब पा सकते हैं।

सरकार को इसके लिए बड़ा जागरूकता अभियान चलाना चाहिए। लोगों को पता होना चाहिए कि गिने जाने के लिए प्रमाण-पत्र होना जरूरी नहीं। ऑटिस्टिक बच्चों से लेकर बाईपोलर डिसऑर्डर के शिकार वयस्कों तक, तमाम लोग केवल इसलिए डेटा में नहीं आ पाते क्योंकि उन्हें नौकरशाही का खौफ होता है या फिर इस बात का कि लोग क्या कहेंगे। और संख्या में कम होने का सीधा-सीधा राजनीतिक परिणाम होता है। इसलिए जरूरी है कि गिनती का काम ऐसे किया जाए कि विकलांग व्यक्ति अपनी स्थिति का खुलासा करने में सुरक्षित महसूस करें। जब तक लोगों को लगता है कि विकलांग के रूप में पहचाने जाने से उन्हें नुकसान होगा, वे चुप रहेंगे। एक मददगार माहौल बनाने के लिए सार्वजनिक संदेश, कानूनी सुरक्षा और संस्थागत जवाबदेही की जरूरत होती है।

परिसीमन आयोग को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उच्च विकलांगता आबादी वाले क्षेत्रों को पुनःसीमांकन प्रक्रिया में खंडित न किया जाए। इन समुदायों को विभाजित करने से उनका सामूहिक राजनीतिक प्रभाव और अधिकारों और पात्रता तक पहुंच कमजोर हो जाती है। जनगणना से पहले ही सभी संस्थानों को अपनी प्रथाओं की समीक्षा करनी चाहिए। उनके पास कितने विकलांग कर्मचारी हैं? क्या जॉब पोर्टल उनके मददगार तकनीक के अनुकूल हैं? क्या विविधता नीतियों में न्यूरोडाइवर्जेंस शामिल है? क्या सार्वजनिक इमारतें वास्तव में सुलभ हैं या सुलभता का दिखावा भर कर रही हैं?

डेटा सही होने का चौतरफा असर होता है। गिनती में विफल होने का मतलब है योजना बनाने में विफल होना। और योजना बनाने में विफल होने का सीधा सा मतलब है बहिष्कृत हो जाना। न केवल इस बार की जनगणना देरी से हो रही है; बल्कि विकलांग व्यक्तियों को न्याय दिलाने में भी देरी हो रही है। भारत के पास दशकों की चूक को सुधारने का मौका है। लेकिन आगे का रास्ता केवल घोषणाओं से तय नहीं किया जा सकता। इसके लिए भरोसा बनाना होगा, गिनती करने वालों को सही तरह से प्रशिक्षण करना होगा और यह सारा काम पूरी पारदर्शिता के साथ होना होगा।

विकलांगों की गिनती कोई दानकर्म या अनुपालन से जुड़ा विषय नहीं। यह हर जिंदगी, इसके हर रूप और स्वरूप को ससम्मान स्वीकार करने के बारे में है। एक अच्छी जनगणना सभी की गिनती करती है। एक सार्थक जनगणना सुनती है, सीखती है और बदलाव लाने में मदद करती है। ■

गंभीर विषय एक अच्छी जनगणना सभी की गिनती करती है और बदलाव लाने में मदद करती है, बशर्ते कोई छूट न जाए।

दुनिया में विकलांगता 15 फीसद है। इसके मुताबिक भारत में लगभग 20 करोड़ विकलांग होने चाहिए, लेकिन कभी सही संख्या सामने नहीं आई। इतने बड़े पैमाने पर छूटने को संख्या में अंतर के रूप में नहीं बल्कि पहचान से महरूम किए जाने के तौर पर देखा जाना चाहिए

पुनीत सिंह सिंघल विकलांगों के लिए काम करने वाले ऐक्टिविस्ट हैं।

कहीं पे निगाहें, कहीं भी निशाना

ट्रंप और नेतन्याहू को उनके युद्ध अपराधों और नरसंहारों की कभी कीमत चुकानी होगी? जवाब है- शायद नहीं

अभय शुक्ला

यह दौर (दुविधा में फंसे) 'हेमलेट' का नहीं, बल्कि निर्णायक सौदा करने वाले का है। 22 जून की रात को ईरान के परमाणु ठिकानों पर ट्रंप की बमबारी के साथ पश्चिम एशिया का उपनिवेशीकरण जोरों पर है। ट्रंप ने चुटकी में फैसला ले लिया कि बी-2 बमवर्षक विमानों को 15 टन के बंकर बस्टर यानी एमओएबी (मदर ऑफ ऑल बॉम्ब्स) के पेलोड के साथ भेजना है। उन्होंने हमेशा की तरह इसके लिए एमओएएल (मदर ऑफ ऑल लाइज) का सहारा लिया। इस बमबारी के एक दिन पहले ही ट्रंप ने घोषणा की थी कि वह अगले दो हफ्ते कूटनीति को आजमाएंगे। 13 तारीख की ही तरह, जब इजराइल ने अचानक हमला करके कूटनीति को हाशिये पर डाल दिया था, ट्रंप ने भी कूटनीति की पीठ में छुरा घोंप दिया।

ट्रंप और नेतन्याहू हताशा-निराशा भरे इस दौर के चंगेज खान हैं जो लगातार युद्ध अपराधों और नरसंहारों को अंजाम दे रहे हैं लेकिन, शायद उन्हें इसकी कीमत कभी चुकानी न पड़े। यह तो इस दौर का महज अक्स है जिसमें हम जी रहे हैं। उनकी योजना अब साफ है- ईरान में सत्ता परिवर्तन और पश्चिम एशिया और उसके तेल पर मिलकर कब्जा करना। हालांकि नरेन्द्र मोदी, जयशंकर और डोभाल अपने लेन-देन वाले और इस्लामोफोबिक चश्मे से इसे नहीं देख सकते। ईरान का परमाणु हथियार कार्यक्रम कभी भी मुद्दा था ही नहीं; ईरान का ऐसा कोई कार्यक्रम है ही नहीं (जैसा कि कई सबूतों से साफ हो गया है)। लेकिन फिर सद्दाम हुसैन के पास भी सामूहिक विनाश का कोई हथियार नहीं था – यह (उनके पास ऐसे हथियार होने का) मिथक अन्य दो 'बी-2' (ब्लेयर और बुश) ने अपने हितों को साधने के लिए रचा था। ईरान के परमाणु कार्यक्रम के बारे में वैसा ही मिथक इस दौर के दो बड़े फरेबियों ने तेहरान पर हमले को हरी झंडी दिखाने के लिए बनाया।

इस घटनाक्रम से कुछ ऐसे सवाल उठते हैं जो दूसरे देशों में सत्ता में बैठे लोगों से लेकर मीडिया तक नहीं पूछ रहा। ईरान को परमाणु कार्यक्रम, यहां तक कि परमाणु हथियार कार्यक्रम क्यों नहीं अपनाना चाहिए? जब दूसरे परमाणु शक्ति संपन्न देश आईएईए निरीक्षण के लिए तैयार नहीं, तो ईरान पर इसके लिए क्यों दबाव बनाया जा रहा है? जब तेहरान रूस, पाकिस्तान, भारत और निश्चित ही दुनिया के सबसे बड़े आतंकवादी खतरे, इजरायल जैसे परमाणु शक्ति संपन्न देशों से घिरा हुआ है, तो उसे परमाणु हथियार बनाने का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए? इजरायल तो आधिकारिक तौर पर यह भी स्वीकार नहीं करता है कि उसके पास परमाणु हथियार क्षमता है, न उसने परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर किए हैं और न ही उसने आईएईए निरीक्षण या प्रोटोकॉल को स्वीकारा है। फिर भी, प्रतिबंध ईरान के खिलाफ हैं, इजरायल के खिलाफ नहीं!

पश्चिमी देशों ने एक और मिथक गढ़ा है- कि परमाणु हथियार कार्यक्रम को लेकर ईरान पर यकीन नहीं किया जा सकता क्योंकि यहां एक बेलगाम शासन है और यह देश आतंकवाद का निर्यातक है। ऐसा उस सभ्यता के बारे में कहा जा रहा है जो तब से अस्तित्व में है जब आज के अमेरिकियों के पूर्वज उत्तरी सागर के टापू पर गुफाओं में रह रहे थे। और यह आरोप लगाने वाले वे दो देश हैं जो ऐसी बातें करने के अधिकारी ही नहीं- एक अमेरिका है जो इतिहास का अकेला ऐसा मुल्क है जिसने किसी देश के खिलाफ परमाणु हथियार का इस्तेमाल किया है, दूसरे विश्व युद्ध के बाद सबसे ज्यादा युद्ध शुरू किए (और हारे हैं) और सैन्य ताकत के बूते सबसे ज्यादा देशों (अब तक 30) पर बमबारी करके वहां अस्थिरता पैदा की। दूसरा है जमीन का भूखा इजरायल जो मध्य-पूर्व में सबसे बड़ी आतंकवादी ताकत है- एक निहायत दुष्ट मुल्क जिसने गाजा में सैकड़ों संयुक्त राष्ट्र कर्मचारियों, चिकित्सा कर्मियों, पत्रकारों, सहायता कर्मियों समेत एक लाख से ज्यादा फिलिस्तीनियों को मार डाला और बचे हुए लोगों को भूखा मारने पर तुला हुआ है।

दोनों ने बार-बार अंतरराष्ट्रीय नियम आधारित व्यवस्था को ठेंगा दिखाते हुए संयुक्त राष्ट्र, अंतरराष्ट्रीय न्यायालय, अंतरराष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय जैसी स्थापित संस्थाओं का अपमान किया है और यहां तक कि इसके पदाधिकारियों पर प्रतिबंध लगाया है, उन्हें धमकाया है और तमाम नेताओं और वैज्ञानिकों की हत्या की है। अगर ट्रंप को नोबेल शांति पुरस्कार नहीं दिया जाता है तो कहीं वह नोबेल पुरस्कार मुख्यालय पर बमबारी न कर दें और अगर नेतन्याहू को आपराधिक मामलों से बरी नहीं किया जाता है तो वह इजरायल की सुप्रीम कोर्ट को ही न प्रतिबंधित कर दें! और हमें यकीन दिलाते हैं कि ईरान विश्व शांति के लिए खतरा है?

विडंबनाएं गहराती जा रही हैं और अगर उनके निहितार्थ इतने भयावह और खतरनाक न होते, तो वे हास्यास्पद ही होतीं। पाकिस्तान ट्रंप को नोबेल शांति पुरस्कार दिए जाने की वकालत की जबकि उसके एक ही दिन पहले ट्रंप ने बिना किसी उकसावे के और तमाम अंतरराष्ट्रीय कानूनों को ताक पर रखकर अब तक के सबसे बड़े बम गिराए! ऐसा करके तीसरे विश्व युद्ध को लगभग भड़का देने के बाद ट्रंप ट्वीट करते हैंः अब शांति का समय आ गया है! हमारे प्रधानमंत्री अमेरिका द्वारा ईरान के मुख्य परमाणु ठिकानों पर बमबारी के बाद ईरानी राष्ट्रपति को फोन करके तनाव घटाने की सलाह देते हैं!

अगर मैं मूर्खताभरी बातें कर रहा हूं, तो क्षमा करें, लेकिन क्या जो पार्टी तनाव बढ़ा रही है, उसे तनाव कम करने के लिए नहीं कहा जाना चाहिए? पाखंड और दोहरेपन की इंतिहा देखिए कि यूरोपीय संघ ने जुलाई के मध्य में इजरायल के खिलाफ प्रतिबंधों पर 'विचार' करने के लिए बैठक बुलाई है – गौर करें, 'विचार' करना 'लागू करना' नहीं है और जब तक बैठक होगी, उनके समर्थन, पैसे और हथियार से मजबूत हो रहा इजरायल गाजा और वेस्ट बैंक में और 1500 फिलिस्तीनियों की हत्या कर चुका होगा। लेकिन जल्दी क्या है! आखिरकार, हम सब को वैसे भी मरना ही तो है!

मैं इस दिखावे, छल, बर्बरता, दया या मानवता को परे खिसकाकर खेले जा रहे इस खेल से आजिज आ चुका हूं। शायद मैं बहुत भोला हूं या फिर निपट बेवकूफ। मेरिल स्ट्रीप के मुताबिक उम्र बढ़ने के साथ दिलचस्प बात यह होती है कि जहां आपकी नजर कमजोर होने लगती है, लोगों की बकवास को समझने की आपकी क्षमता बेहतर हो जाती है और मुझे भी उम्र बढ़ने के साथ वैसा ही कुछ लगने लगा है। अब, यह वरदान है या अभिशाप? इसकी पड़ताल का काम डेनमार्क के राजकुमार (हेमलेट) पर है। ■

मुलाकात व्हाइट हाउस में इजरायल के प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू और अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप।

ट्रंप-नेतन्याहू की योजना है ईरान में सत्ता परिवर्तन कर उसके तेल पर कब्जा करना। हालांकि नरेन्द्र मोदी, जयशंकर और डोभाल इस्लामोफोबिक चश्मे से इसे नहीं देख सकते। ईरान का परमाणु हथियार कार्यक्रम कभी भी मुद्दा था ही नहीं; ईरान का ऐसा कोई कार्यक्रम है ही नहीं

अभय शुक्ला सेवानिवृत्त आईएएस अधिकारी हैं।
यह avayshukla.blogspot.com से लिए उनके लेख का संपादित रूप है।

आस्था का अग्निपथ

पहलगाम के पास बैसरन घाटी में हुए आतंकवादी हमले के बाद भय और आशंकाओं के माहौल में शुरू हुई अमरनाथ यात्रा

हारून रेशी

पहलगाम की बैसरन घाटी में 22 अप्रैल को आतंकवादी हमले में 25 पर्यटकों और एक टट्टूवाले के मारे जाने के बाद 3 जुलाई को अमरनाथ यात्रा शुरू हुई। 9 अगस्त तक चलने वाली यात्रा के मद्देनजर खास तौर पर पूरी घाटी में सुरक्षा के अभूतपूर्व इंतजाम के बाद भी लगता है कि लोगों की आशंकाएं दूर नहीं हो सकी हैं। अभी श्रद्धालुओं की संख्या को देखते हुए माना जा रहा है कि इस साल कई दशकों की अपेक्षा बेहद कम तीर्थयात्री आने वाले हैं।

श्रीनगर में राजभवन में पत्रकारों से बात करते हुए उपराज्यपाल (एलजी) मनोज सिन्हा ने इस साल श्रद्धालुओं की संख्या पर हमले के प्रभाव को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि 22 अप्रैल तक पंजीकृत 2.36 लाख तीर्थयात्रियों में से 26 जून तक केवल 85,000 ने ही अपनी भागीदारी की पुष्टि की। यह गिरावट कितनी बड़ी है, इसे समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना होगा कि पिछले साल 5 लाख से ज्यादा तीर्थयात्रियों ने अमरनाथ यात्रा की और यह संख्या पिछले एक दशक की सर्वाधिक थी। 2005 से 2024 की बात करें तो सालाना तीर्थयात्रियों की संख्या 2017 में न्यूनतम (2.6 लाख) और 2011 में अधिकतम (6.3 लाख) रही।

ये संख्या न केवल तीर्थयात्रियों की श्रद्धा-भक्ति को दर्शाती हैं, बल्कि उनकी दृढ़ता को भी। अमरनाथ यात्रा को केवल दो बार रद्द किया गया- 2020 और 2021 में जो महामारी के कारण किया गया था। तीर्थयात्रियों पर कई बार हमले हुए हैं। 2 अगस्त 2000 को दो घंटे तक चली गोलीबारी में आतंकवादियों ने 21 हिन्दू तीर्थयात्रियों, 7 मुस्लिम नागरिकों और 3 सुरक्षाकर्मियों को मार डाला था।

10 जुलाई 2017 को आतंकवादियों ने अनंतनाग में छह महिलाओं समेत सात अमरनाथ तीर्थयात्रियों की हत्या कर दी और 32 अन्य को घायल कर दिया। उसी साल गृह राज्यमंत्री हंसराज अहीर ने लोकसभा को बताया कि 1990 से 2017 के बीच अमरनाथ यात्रा पर 36 आतंकवादी हमलों में 53 तीर्थयात्री मारे गए और 167 घायल हुए। हालांकि, ये हमले यात्रियों को तीर्थयात्रा से नहीं रोक सके। लेकिन इस बार के हालात अलग हैं। अब तक 22 अप्रैल के हमलावरों को सुरक्षा बल पकड़ नहीं सके हैं और भय का माहौल हावी है।

पहलगाम हमले के दो दिन बाद जम्मू-कश्मीर पुलिस ने तीन संदिग्धों के स्केच जारी किए: पाकिस्तानी नागरिक हाशिम मूसा और अली भाई (उर्फ तल्हा) और स्थानीय निवासी आदिल हुसैन थोकर। हालांकि, जांच अपने हाथ में लेने के बाद राष्ट्रीय जांच एजेंसी (एनआईए) ने यह कहते हुए इन तीनों के नाम वापस ले लिए कि हमलावर हैं तो पाकिस्तानी, लेकिन ये नहीं कोई और। पहलगाम के रहने वाले अब्दुल रशीद ने कहा, 'हमलावरों की पहचान को लेकर भ्रम और उन्हें गिरफ्तार न कर पाने की वजह से लोगों में बेचैनी बढ़ गई है।'

इस अनिश्चितता के बीच, अमरनाथ यात्रा के लिए बहुस्तरीय सुरक्षा व्यवस्था की गई है, जिसमें अर्धसैनिक बलों की 180 से अधिक कंपनियां तैनात हैं। सीआरपीएफ, आईटीबीपी और जम्मू-कश्मीर पुलिस सहित 70,000 से अधिक सुरक्षा कर्मियों को तैनात किया गया है, जबकि 2024 में यह संख्या 45,000 और 2023 में 35,000 थी। पहली बार, जम्मू-कश्मीर पुलिस से 10 पुलिस अधीक्षक (एसपी) और 15 पुलिस उपाधीक्षक यात्रियों की सुरक्षा के लिए तैनात किए गए हैं। भारतीय सेना के 'ऑपरेशन शिव' का उद्देश्य यात्रा मार्ग और आधार शिविरों पर व्यापक सुरक्षा कवरेज सुनिश्चित करना है। एक आधिकारिक प्रवक्ता ने कहा कि राष्ट्रीय राजमार्गों, शहर के बाहरी इलाकों और पवित्र गुफा की ओर जाने वाले रास्तों सहित संवेदनशील और ज्यादा चहल-पहल वाले इलाकों में चौकियां चौबीसों घंटे काम कर रही हैं।

यात्रा मार्गों पर चेहरे की पहचान करने वाली प्रणालियां (एफआरएस) भी लगाई गई हैं। ये कैमरे ज्ञात आतंकवादियों और संदिग्धों की छवियों वाले डेटाबेस से जुड़े हैं। इसके अलावा, तीर्थयात्रियों को ले जाने वाले वाहनों को रेडियो फ्रीक्वेंसी आइडेंटिफिकेशन (आरएफआईडी) टैग का उपयोग करना जरूरी है। ये टैग वास्तविक समय में ट्रैक किए जाते हैं जिससे सुरक्षा दल किसी आपात स्थिति या किसी के लापता होने की स्थिति में तेजी से प्रतिक्रिया कर सकें। अतिरिक्त सुरक्षा उपायों में हाई-डेफिनेशन निगरानी कैमरे, 24/7 कमांड-एंड-कंट्रोल सेंटर, त्वरित प्रतिक्रिया दल, एक्स-रे स्कैनर, बम का पता लगाने वाले दस्ते और कुछ-कुछ किलोमीटर पर चेकपॉइंट पर तैनात थर्मल इमेजिंग डिवाइस शामिल हैं। आपातकालीन देखभाल और सहायता प्रदान करने के लिए यात्रा मार्गों पर लगभग 100 चिकित्सा शिविर लगाए गए हैं जिनमें सशस्त्र बलों और सिविल अस्पतालों दोनों के डॉक्टर तैनात किए गए हैं।

अधिकारियों ने इस साल अमरनाथ गुफा के दोनों मार्गों- पहलगाम मार्ग (48 किलोमीटर) और बालटाल मार्ग (14 किलोमीटर) पर हेलीकॉप्टर सेवाओं पर प्रतिबंध लगा दिया है। इन मार्गों को 1 जुलाई से 10 अगस्त तक नो-फ्लाई जोन घोषित किया गया है। चिकित्सा निकासी या सुरक्षा निगरानी जैसे आपात कार्यों को छोड़कर, ड्रोन, यूएवी और गुब्बारे प्रतिबंधित हैं। पिछले साल लगभग 40,000 तीर्थयात्रियों ने, जिनमें ज्यादातर बुजुर्ग थे- पवित्र गुफा तक पहुंचने के लिए हेलीकॉप्टर सेवा का इस्तेमाल किया। इन सुरक्षा उपायों के अलावा, एजेंसियों ने आतंकवादी हमलों, भगदड़ और प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति में आपातकालीन प्रतिक्रिया तत्परता को परखने के लिए श्रीनगर के आठ क्षेत्रों और पहलगाम, अनंतनाग, काजीगुंड जैसे प्रमुख स्थानों पर समन्वित मॉक ड्रिल किए हैं। एक अधिकारी ने इन पंक्तियों के लेखक को बताया कि 'अभ्यास का उद्देश्य पुलिस, केन्द्रीय सशस्त्र पुलिस बल (सीएपीएफ) और राज्य आपदा प्रतिक्रिया बल (एसडीआरएफ) के बीच समन्वय सुनिश्चित करना था।' तमाम लोगों का मानना है कि इन सुरक्षा उपायों- मॉक ड्रिल, व्यापक प्रचार और नो फ्लाई जोन की घोषणा- ने संभावित तीर्थयात्रियों को सुरक्षित महसूस कराने के बजाय उनकी चिंताओं को बढ़ा ही दिया है।

विडंबना यह है कि व्यापक सुरक्षा उपायों के बावजूद 1 जुलाई को सुरक्षा एजेंसियों ने सुरक्षा चौकियों को बाईपास करने की कोशिश में जाली अमरनाथ यात्रा पंजीकरण कार्ड रखने और उसका इस्तेमाल करने के आरोप में बालटाल में एक व्यक्ति को गिरफ्तार किया। उसकी पहचान शिवम मित्तल के रूप में हुई है, जो फर्जी परमिट के साथ प्रतिबंधित क्षेत्र में प्रवेश की कोशिश में पकड़ा गया। पुलिस ने एफआईआर दर्ज कर ली है और जाली दस्तावेज के स्रोत का पता लगाने और इसके पीछे के संभावित नेटवर्क का पता लगाने के लिए जांच चल रही है। यह घटना सुरक्षा बंदोबस्त में खामियों की ओर इशारा करती है। यात्रा अब केवल तीर्थयात्रियों के लिए धीरज की परीक्षा नहीं- यह सरकार, इसकी सुरक्षा एजेंसियों और पवित्र परंपराओं और तीर्थयात्रियों- दोनों की सुरक्षा करने की उनकी क्षमता के संकल्प की परीक्षा है। अगर सब कुछ ठीक रहा, तो इससे इलाके में पर्यटन को फिर से जिंदा करने में मदद मिल सकती है। ■

देनो फोटो: जेटी इमेजेज

मुस्तैदी जम्मू कश्मीर के बालटाल में अमरनाथ यात्रियों की सुरक्षा में तैनात सुरक्षाबल का जवान।

चौकियों को बाईपास करने की कोशिश में जाली अमरनाथ यात्रा पंजीकरण कार्ड के साथ बालटाल में एक व्यक्ति को गिरफ्तार किया गया। यह सरकार, सुरक्षा एजेंसियों के लिए पवित्र परंपराओं और तीर्थयात्रियों की सुरक्षा करने की क्षमता के संकल्प की परीक्षा है

आरएसएस ने क्यों लिया राजनीति का सहारा

कहीं नहीं सुना गया जन संघ की हीरक जयंती का जिक्र जिसकी उपज है भाजपा

आकार पटेल

अभी कुछ दिन पहले आपातकाल की 50वीं वर्षगांठ की चर्चा रही। लेकिन एक और बरसी भी थी, वह भी हीरक जयंती यानी 75वीं सालगिरह जिसका जिक्र कहीं नहीं सुना गया। यह बरसी थी भारतीय जनसंघ की स्थापना और उसके अस्तित्व में आने के कारणों की थी।

श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने 5 मई 1950 को जनसंघ के गठन और उसके एजेंडे का ऐलान करते हुए 8-सूत्री कार्यक्रम सामने रखा था। यह सूत्र थे –

1. *एकीकृत भारत (अखंड भारत भी पढ़ सकते हैं)*
2. *पाकिस्तान के प्रति तुष्टीकरण के बजाय पारस्परिक व्यवहार*
3. *स्वतंत्र विदेश नीति*
4. *शरणार्थियों का पुनर्वास*
5. *वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि और उद्योगों का विकेन्द्रीकरण*
6. *एकल भारतीय संस्कृति का विकास*
7. *सभी नागरिकों को समान अधिकार और पिछड़े तबकों का उद्धार*
8. *पश्चिम बंगाल और बिहार की सीमाओं का पुनर्निर्धारण*

हिन्दू महासभा से आने वाले श्यामा प्रसाद मुखर्जी के अलावा जनसंघ की संरचना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) से प्रेरित थी। आज भी यह पार्टी निस्संदेह अपने मातृ संघटन की सहायक संस्था बनी हुई है। आखिर आरएसएस राजनीति में क्यों आया? इसकी कहानी दिलचस्प है। कुछ साल पहले भाजपा द्वारा प्रकाशित जनसंघ के आधिकारिक इतिहास में इसे इस तरह से समझाया गया है।

दिसंबर 1947 में आरएसएस ने दिल्ली में एक रैली की जिसमें बड़ी संख्या में लोग शामिल हुए। साथ ही कई हिन्दू रियासतों के राजकुमार, कारोबारी और दूसरे हिन्दू संगठनों के नेता भी इससे आकर्षित हुए। आरएसएस की इस लोकप्रियता ने कांग्रेस के कान खड़े कर दिए। संघ के मुताबिक, विशेष रूप से जवाहरलाल नेहरू काफी अचंभित हुए थे। 30 जनवरी 1948 को महात्मा गांधी की हत्या से कांग्रेस को मौका मिल गया और उसने गांधी की हत्या के तीन दिन बाद यानी 2 फरवरी 1948 को आरएसएस पर प्रतिबंध लगा दिया।

आरएसएस प्रमुख गोलवलकर को आभास हो गया कि एक बार गांधी की हत्या की सारी परतें खुलीं, तो संघ मुश्किल में पड़ जाएगा। वह तुरंत सक्रिय हुए। उन्होंने 30 जनवरी 1948 को ही यानी गांधी की हत्या के दिन ही आरएसएस की सभी शाखाओं को टेलीग्राम भेजकर उनके कार्यक्रमों को 13 दिन के लिए निलंबित कर दिया।

उसी दिन उन्होंने नेहरू, पटेल और देवदास गांधी को भी टेलीग्राम से शोक संदेश भेजा। इसमें लिखा था, "इस क्रूर घातक हमले और महानतम व्यक्तित्व की दुखद क्षति से स्तब्ध हूं।" अगले दिन उन्होंने फिर से नेहरू को पत्र लिखकर अपना शोक व्यक्त किया और गोडसे को 'कोई विचारहीन विकृत आत्मा' बताते हुए लिखा कि उसने 'पूज्य महात्मा जी की गोली मारकर अचानक और वीभत्स तरीके से हत्या करने का जघन्य कृत्य किया था।' उन्होंने हत्या को अक्षम्य और देशद्रोह का कृत्य बताया।

उसी दिन उन्होंने पटेल को भी लिखा, 'मेरा हृदय अत्यंत पीड़ा से भरा हुआ है। इस अपराध को करने वाले व्यक्ति की निंदा करने के लिए शब्द खोजना कठिन है ।' आरएसएस को गैरकानूनी घोषित करने वाली सरकारी अधिसूचना में कहा गया था, 'आरएसएस के घोषित उद्देश्य और लक्ष्य हिन्दुओं की शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक भलाई को बढ़ावा देना और उनके बीच भाईचारे, प्रेम और सेवा की भावनाओं को बढ़ावा देना है । हालांकि, सरकार ने खेद के साथ देखा है कि व्यवहार में आरएसएस के सदस्य अपने घोषित आदर्शों का पालन नहीं करते हैं।'

'संघ के सदस्यों द्वारा अवांछनीय और खतरनाक गतिविधियां की गई हैं (जो) आगजनी, लूट, डकैती और हत्या जैसी हिंसात्मक गतिविधियों में शामिल रहे हैं और अवैध हथियार और गोला-बारूद इकट्ठा किया है। वे लोगों को आग्नेयास्त्र इकट्ठा करने के लिए आतंकवादी तरीकों का सहारा लेने के लिए प्रेरित करने वाले पर्चे बांटते पाए गए हैं ... जिससे सरकार के लिए संघ से उसकी कॉरपोरेट हैसियत से निपटना जरूरी हो गया है।'

गोलवलकर को 3 फरवरी को करीब 20,000 स्वंयसेवकों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। संघ कहता है कि यह हैरान करने वाला था कि कोई भी राजनीतिक दल या राजनीतिक नेता इसके पक्ष में न तो कुछ बोला और न ही साथ देने के लिए खड़ा हुआ। संघ पर पाबंदी करीब डेढ़ साल तक रही। जब आरएसएस ने अपना संविधान प्रकाशित किया और सरकार के पास जमा कराया, तो पाबंदी 11 जुलाई, 1949 को हटा ली गई।

इसके फौरन बाद ही आरएसएस ने अपने मुखपत्र द ऑर्गेनाइजर के जरिये राजनीति में आने की चर्चा शुरू कर दी। ऑर्गेनाइजर में आरएसएस कार्यकर्ता के आर मलकानी का लेख छपा जिसमें उन्होंने लिखा था कि 'संघ को न सिर्फ खुद को बचाने के लिए, बल्कि अ-भारतीय और भारत विरोधी राजनीति को रोकने के लिए राजनीति में अवश्य आना चाहिए... और सरकारी मशीनरी के माध्यम से भारतीयता के लक्ष्य को आगे बढ़ाना चाहिए।' इन कारणों से संघ को 'संपूर्ण नागरिकों की राष्ट्रीय सांस्कृतिक शिक्षा के लिए एक आश्रम के रूप में जारी रहना चाहिए, लेकिन अपने आदर्शों की अधिक प्रभावी और शीघ्र प्राप्ति के लिए उसे एक राजनीतिक शाखा भी विकसित करनी चाहिए।'

मलकानी ने कहा कि नई पार्टी 'प्राचीन मूल्यों का पुनरुत्थान करने वाली होगी क्योंकि यह अपने लक्ष्यों में भविष्यदर्शी होगी' और इसे 'विदेशी मूल्यों, दृष्टिकोण और तौर-तरीकों पर निर्भर न रहने' के लिए कहा जाएगा और 'हिन्दुस्तान में इस पुनर्गठन का सिद्धांत केवल हिन्दुत्व हो सकता है।' आर्य समाज के आरएसएस कार्यकर्ता बलराज मधोक ने लिखा कि संघ को 'देश की राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के संबंध में देश का नेतृत्व करना चाहिए' क्योंकि यह 'संघ के अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण है।'

मुखर्जी ने 19 अप्रैल 1950 को संसद में दिए अपने बयान में कहा कि उन्होंने 'बंगाल के विभाजन के पक्ष में जनमत तैयार करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई थी।' इसके तहत उन्होंने 'पूर्वी बंगाल (बाद में बांग्लादेश) के हिन्दुओं को आश्वासन दिया कि अगर भविष्य में पाकिस्तान सरकार के हाथों उन्हें नुकसान उठाना पड़ा तो...स्वतंत्र भारत मूकदर्शक बनकर नहीं रहेगा।'

और जैसा कि हम 2025 के भारत में अपने आस-पास जो कुछ घटित हो रहा है, उसे पढ़ते और उसका आकलन करते हैं, तो पाते हैं कि इन्हें उन घटनाओं के माध्यम से ज्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकेगा जो 75 वर्ष पूर्व की घटनाओं में दिखता है और जिनके कारण भाजपा का गठन हुआ। ■

अनायास नहीं संसद के केन्द्रीय कक्ष में श्यामा प्रसाद मुखर्जी की तस्वीर के आगे भाजपा के नेतागण।

2025 के भारत में जो कुछ घटित हो रहा है, उसे पढ़ने और उसका आकलन करने पर पाते हैं कि इन्हें उन घटनाओं के माध्यम से ज्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकेगा जो 75 वर्ष पूर्व की घटनाओं में दिखता है और जिनके कारण हुआ भाजपा का गठन

बर्बर होते जाने और छवियां निहारने का युग

सभ्यता अब बर्बरता का दूसरा नाम भर है। जो सबसे धनाढ्य, विकसित, शक्ति-संपन्न, साधनमय हैं, वे सबसे अधिक बर्बर साबित हो रहे हैं

अशोक वाजपेयी

कुछ दिन पहले अमेरिका ने दावा किया कि उसने ईरान के तथाकथित परमाणु कार्यक्रम के तीन ठिकानों पर बमबारी की है। इजरायल-ईरान के युद्ध में अमेरिका का प्रवेश खतरनाक है और कई दुस्संभावनाओं को जन्म दे सकता है। युद्ध में दुनिया को झोंकने की सारी जिम्मेदारी दो लगभग विक्षिप्त हो गए राजनेताओं- बेंजामिन नेतन्याहू और डॉनल्ड ट्रंप की है।

हम यह सब लाचार देख रहे हैं। हमें यह समझ में ही नहीं आ रहा है कि इतनी प्रगति और विकास के साथ-साथ दुनिया में शांति, अमन-चैन की चाह इतनी तेजी से घट कैसे गई है? सारे अंतरराष्ट्रीय संचार और संवाद के अत्यंत व्यापक और सक्षम माध्यमों के रहते अंतरराष्ट्रीय सुलह-सफाई की कोशिश इतनी मरियल क्यों है?

दुनिया विश्वयुद्ध के ही नहीं, नैतिकता और मानवीय अंतःकरण के अधःपतन के कगार पर है। इन सब हिंसक वृत्तियों को नियमित कर रही हैं व्यापारिक शक्तियां। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दुनिया में शांति, सहयोग और संवाद का वातावरण किसी हद तक बना था। वह तार-तार छिन्न-भिन्न हो रहा है। हिंसा का चारों दिशाओं में रौद्र तांडव हो रहा है और हम या तो उसमें शामिल हैं या उसके सिर्फ लाचार तमाशबीन। मनुष्य के अपने संसार को नष्ट करने के नए-नए यंत्र-तंत्र विकसित कर लिए गए हैं और अब उनका व्यापक स्तर पर प्रयोग करने का मुकाम आ गया लगता है। सभ्यता अब बर्बरता का दूसरा नाम भर है। जो सबसे धनाढ्य, विकसित, शक्ति-संपन्न, साधनमय हैं, वे ही सबसे अधिक बर्बर साबित हो रहे हैं।

यह बर्बरता सिर्फ युद्धों या सैन्य घटनाओं भर में प्रगट नहीं हो रही है। उनको आम जिंदगी में भी बढ़ते-रमते देखा जा सकता है। दुनिया आज जितनी हिंसक, आक्रामक, असभ्य और बर्बर है, उतनी शायद बीसवीं शताब्दी में नहीं थी जबकि इस नई शताब्दी का अभी एक चौथाई ही बीता है। भारत से लेकर दुनिया के अनेक देशों में इस समय सत्ताधारी वे हैं जो हिंसा में लिप्त रहे हैं, उसे बढ़ावा देते हैं और जिन्हें अपार लोकप्रियता मिली हुई है। हिंसा को जितना जनसमर्थन और लोकतांत्रिक वैधता आज मिली है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी। रचने, बचाने और नष्ट करने की वृत्तियों में घमासान हो रहा है। लगता यह है कि नष्ट करने का उत्साह बहुत आगे निकल गया है और रचना-बचाना बहुत पीछे छूट रहा है। सारे स्वप्न दुस्स्वप्न बहुत हो चुके हैं और जो भी विकल्प हो सकते हैं, वे बहुत कमजोर और ऊर्जाहीन लगने लगे हैं। ऐसी घोर नाउम्मीदी के अंधेरे में लेखक-कलाकार चुप हो जाएं तो यह अपने समय की बर्बरता को मूक समर्थन देने जैसा दुखद होगा। जो भी हो, वे गवाह हो सकते हैं, अपनी गवाही दर्ज कर सकते हैं, इस सबमें अपनी शिरकत और जिम्मेदारी का निर्मम आत्मस्वीकार कर सकते हैं।

खतरनाक दौर इस तरह की छवियां बर्बर होते समय का ही प्रमाण है कि चारों ओर युद्ध और अशांति का धुआं छाया दिख रहा।

सीढ़ियां और चाबियां

हम जिस बर्बरता के दलदल में फंसते जा रहे हैं, उससे बाहर या ऊपर आने का कौन-सा उपाय हो सकते है? कई बार लगता है कि हमें सीढ़ियां चाहिए जिन पर किसी तरह चढ़कर हमें लगातार बढ़ते-घेरते कीचड़ से ऊपर उठ सकने, ऊपर जाने का कुछ उपाय मिल सके। सीढ़ियां चूंकि कीचड़ में ही धंसी होंगी, कुछ कीचड़ तो हमारे साथ ऊपर भी जाएगा ही। पर उसे हम बाद में धोकर साफ कर सकते हैं।

भले इसका कोई आश्वासन नहीं है कि सीढ़ियां जहां भी ले जाएंगी, वहां कोई दूसरे किस्म का कीचड़ नहीं होगा। पर कोशिश कर कीचड़ से, यानी बर्बरता से उबर सकने की कोशिश का जोखिम तो हमें उठाना ही होगा। सीढ़ियों पर ऊपर उठना, उठते जाना आसान नहीं होगा और कई बार फिसल भी सकते हैं। सवाल यह है कि क्या साहित्य और कलाएं ऐसी सीढ़ियां हो सकते हैं? हो तो सकते हैं, पर क्या उन्हें ऐसी सीढ़ियां हो सकने में कोई दिलचस्पी है? इस सवाल का सीधा आशय यह है कि क्या साहित्य और कलाओं को हम बर्बरता के विरुद्ध सन्नद्ध पा या कर सकते हैं। हमारे पास इतना पर्याप्त साक्ष्य है कि कहा जा सके कि साहित्य और कलाएं अपने स्वभाव और लक्ष्य- दोनों में ही, कुल मिलाकर, बर्बरता के विरुद्ध ही रहे हैं। बर्बरता के बरक्स सभ्यता का अधिकांशतः रूपायन साहित्य और कलाओं से ही हुआ है। फिर सवाल यह उठेगा कि क्या आज का साहित्य और कलाएं आज की व्यापक बर्बरता के विरुद्ध हैं? इसका उत्तर फिर समवर्ती रचनाशीलता के साक्ष्य से खोजें तो यही नतीजा निकलेगा कि वे आज भी बर्बरता के विरुद्ध हैं।

> यह हमारी सामूहिक मानवता, सामूहिक नैतिकता, सामूहिक अंतःकरण- सभी के खतरनाक उतार का, क्षरण और लोप का मुकाम है। हमें लगातार बर्बर बनाया जा रहा है और हम तेजी से बर्बर हो रहे हैं। हम सभ्यता का ध्वंसावशेष हो जाने के कगार पर हैं

हमारा दूसरा रूपक है चाबियों का। हम हिंसा-हत्या-अत्याचार-विध्वंस-संहार के जिस गाढ़े अंधेरे नरक में कैद और महदूद होते जा रहे हैं, उससे बाहर निकलने, भाग सकने की चाबियां क्या हमारे पास हो सकती हैं? फिलिस्तीनी कवि महदूद दरवेश की पंक्तियां हैं:

अगर मेरे पास दूसरा वर्तमान होता
तो बीते कल की चाबियां मेरे पास होतीं
अगर बीता कल मेरे साथ होता
तो मेरे पास होता समूचा आनेवाला कल

हमारा वर्तमान जितना युद्ध-बर्बरता-हिंसा-हत्या-घृणा और झूठ में सना है, उतना अन्यत्र नहीं है और हम अपने ही बनाए नरक में कैद हैं। जब तक हम एक दूसरा वर्तमान अपने लिए, सपनों और उम्मीद से, आस्था और साहस से नहीं रचते जो कि साहित्य और कलाओं में संभव है, तब तक हमारे पास मुक्ति की चाबी हो सकती है, न ही कोई सभ्य भविष्य। यह लग सकता है कि यह साहित्य और कलाओं के लिए बहुत बड़ा एजेंडा तय करना है। लेकिन जब सभ्यता इतनी संकटग्रस्त हो जितनी वह आज है तो उसे बचाने की बड़ी महत्वाकांक्षा साहित्य और कलाओं में नहीं होगी तो और कहां होगी? वे सभ्यता की शायद सबसे उजली संतान हैं और संतान उसे बचाने का दुस्साहस नहीं करेगी तो और किससे उम्मीद की जा सकती है?

बर्बरता का मनोरम

हमारी एक बड़ी विडंबना यह भी है कि उसकी मानवता के बड़े हिस्से का सत्यानाश कर सकने की वृत्ति और क्षमता के बावजूद, संसार में बर्बरता का आनंद लेने, उसे मनोरम पाने वाले अब करोड़ों में हो गए हैं। यह थोड़ा विचित्र है, पर सही है कि बर्बरता फैलाने और उसे मनोरम बनाने में टेलीविजन और ऑनलाइन सोशल मीडिया की बड़ी कारगर भूमिका है। इन माध्यमों से किसी तरह के मानवीय अंतःकरण के लोप का यह सबसे प्रबल प्रमाण है।

भारत में गोदी मीडिया ने हिंसा, हत्या, घृणा, झूठ और युद्धोन्माद फैलाने और उसे 'घर-घर पहुंचाने' का काम बहुत मुस्तैदी और अभूतपूर्व स्वामिभक्ति के साथ किया है, कर रहा है। इजरायल-ईरान-अमेरिका के युद्ध की जो छवियां टीवी स्क्रीन पर लगातार आती रही हैं, उनमें बरबादी और ध्वंस के दृश्य कम ही रहे हैं। बहुतायत रही है बमवर्षक विमानों की उड़ानों की, उनमें से जो नायाब हैं, उनके सुंदर डिजाइनों की। ऐसा लगता रहा है जैसे बमवर्षक विमान आकाश में एक तरह की दीपावली मना रहे हैं: कई बार उनका दूर आकाश में दीप्त ओझल हो जाना ऐसा लगता है जैसे कुछ विशाल जुगनू, दिपते-दिपते, ओझल हो गए। 'ये मारा, वो मारा', 'यह चौका तो वह छक्का' जैसे भाव भी उपजाए जाते रहे। ऐसा लगता है कि जैसे युद्ध हो ही इसलिए रहे हैं कि इन माध्यमों को उनकी एकरस दृश्यावली और प्रस्तुतियों से मुक्त कर कुछ रोमांचक, उत्तेजक दृश्य और नई तरह से चीखने-चिल्लाने का अवसर दिया जाए। कुछ रसपरिवर्तन किया जा सके।

यह हमारी सामूहिक मानवता, सामूहिक नैतिकता, सामूहिक अंतःकरण, सभी के खतरनाक उतार का, क्षरण और लोप का मुकाम है। हमें लगातार बर्बर बनाया जा रहा है और हम तेजी से बर्बर हो रहे हैं। हम सभ्यता का ध्वंसावशेष हो जाने की कगार पर है। हमें कोई और नहीं बचाएगा। अपने को बचाने की जिम्मेदारी हमारी है, लेकिन हम अक्सर बर्बरता को मनोरम पाते हुए उसका रसभोग करते हुए नैतिक रूप से खाली या आलसी होकर रह गए हैं। हम असूचित या अबोध लोग नहीं हैं- हम बर्बरता की छवियां चौबीस घंटे निहारते लोग हैं जो वाणी और विचार की बर्बरता भी रोज-ब-रोज देखते-सुनते-पढ़ते आए हैं। ■

अशोक वाजपेयी वरिष्ठ साहित्यकार हैं। साभार: thewirehindi.com

नवाब आसफउद्दौला राजधानी न बदलते तो?

क्या तब भी लखनऊ में चाय 'खाई' और 'पेट से अदावत करने वाली दावतें' दी जातीं?

कृष्ण प्रताप सिंह

अवध में नवाबों का राज खत्म होने के बाद से सरयू व गोमती नदियों में ढेर सारा पानी बह चुका है, लेकिन यह सवाल अब भी, जब-तब जवाब मांगने आ धमकता है कि 1775 में नवाब आसफउद्दौला सूबे की राजधानी फैजाबाद से लखनऊ स्थानांतरित न करते तो? उनके द्वारा लखनऊ को राजधानी बनाने के बाद जो चकाचौंध उसके हिस्से आया, क्या तब वह उस फैजाबाद के हिस्से आता, जिसका अब नाम ही मिटा दिया गया है?

पहली नजर में यह बहुत स्वाभाविक लगता है, लेकिन दूसरी ही नजर में इसकी संभावना इस असुविधाजनक सवाल में फंस जाती है कि क्या फैजाबाद ने अपने राजधानी होने के दिनों में वैसा एक भी 'अजब-गजब' किस्सा बनाया, जैसे लखनऊ ने अनगिनत बनाए हैं? इस सवाल का एक ही जवाब है: नहीं। और अनेक लोग इसके मद्देनजर अकारण ही नया सवाल नहीं करते कि तब यह स्वीकार कर कि अवध की इन दोनों राजधानियों की प्रकृति ही अलग-अलग है, सारे 'अजबों-गजबों' को खास लखनऊ की ही देन क्यों नहीं मान लिया जाता?

फैजाबाद के कद्रदान कुछ भी कहें, लखनऊ पर फिदा लोग कहते हैं कि मानने की बात ही नहीं है, क्योंकि इस सीमा तक सच है कि न मानने का कोई विकल्प ही उपलब्ध नहीं।

क्यों भाई? आइये, एक चाय के किस्से की बिना पर समझाते हैं। आपने बहुत से चायघर देखे होंगे। उनके अजीबोगरीब नामों से चौंके भी होंगे और उनमें चाय भी पी होगी। लेकिन लखनऊ नहीं आये, तो शायद ही जानते हों कि चाय पीने की ही नहीं, खाने की भी चीज होती है। और यह 'खाने की चीज' चायघरों में नहीं, कारखानों में बनाई जाती है।

चौंकिये नहीं, पुराने लखनऊ में सोहाल, जीरा, जावित्री, लौंग, जायफल व कई अन्य गरम मसाले डालकर और बालाई (यानी मलाई) मारकर बनाई जाने वाली कश्मीरी या गुलाबी नामक चाय (जो पी नहीं बल्कि खाई जाती है) लम्बे अरसे तक लखनवियों की जीभों को ललचाती रही है।

भले ही अब इसका 'लालच' कम हो गया है, यह जानना दिलचस्प है कि इस चाय को चायघर में जाकर खाया ही जा सकता है, बनते नहीं देखा जा सकता। क्योंकि इसे चायघरों में नहीं, कारखानों में खास प्रविधि से बनाया जाता है और इस काम में कई-कई घंटे लगते हैं। बन जाने के बाद इसे कंटेनरों में भरकर चायघरों में ले जाया जाता है, जहां तलबगारों को परोसने से पहले चूल्हे पर उबाला जाता है।

पी जाने वाली चाय का कोई खास मौसम नहीं होता, लेकिन यह खाई जाने वाली चाय लखनवियों को गुलाबी ठंड के मौसम में ही ज्यादा भाती रही है। जानकारों के अनुसार अठारहवीं शताब्दी के अंत में इसके स्वाद का जादू तब लखनवियों के सिर चढ़कर बोलने लगा, जब नवाब आसफउद्दौला के बेटे वजीर अली की शादी की धूमधाम के बीच कश्मीर से आये खानसामों ने कहवे की तर्ज पर तैयार कर इसे मेहमानों को पेश किया। कश्मीर से इस चाय के महज इतने रिश्ते के बावजूद 'पहले मैं, पहले मैं' के विपरीत 'पहले आप, पहले आप' में यकीन रखने वाले लखनवियों ने दरियादिली से इसे कश्मीरी चाय कहना शुरू कर दिया तो यह इसी नाम से मशहूर हो गई।

अलबत्ता, बाद में इसे गुलाबी चाय का नाम भी मिल गया। लेकिन इसके नाम से भी ज्यादा बड़ी बात यह कि नफासतपसंद लखनऊ में चायघरों में जाकर चाय पीने का रिवाज उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक भी परवान नहीं चढ़ पाया था। भले ही अंग्रेजों ने 1857 का स्वतंत्रता संग्राम जीतकर इस शहर पर ही नहीं, इसकी सामूहिक चेतना पर भी कब्जा जमा लिया था। फिर निरंकुश विजेता की तरह वे उसके रीति-रिवाजों को कमतर व हेय ठहराकर उसके शहरियों पर क्लबों व सोसायटियों की अपनी पसंद की जीवनशैली थोपने लगे थे।

> आपने बहुत से चायघर देखे होंगे। उनके अजीबोगरीब नामों से चौंके भी होंगे और उनमें चाय भी पी होगी। लेकिन लखनऊ नहीं आए, तो शायद ही जानते हों कि चाय पीने की ही नहीं, खाने की भी चीज होती है। और यह 'खाने की चीज' चायघरों में नहीं, कारखानों में बनाई जाती है

इस शताब्दी के नवें दशक में उन्होंने अवध में कृषि व व्यापार के तत्कालीन निदेशक मीर मुहम्मद हुसैन की मार्फत लखनऊ के ऐन चौक में चायखाना खुलवाया और उसमें उठने-बैठने के लिए सरकारी खर्चे पर आलीशान फर्नीचर की व्यवस्था कराई। इतना ही नहीं, उसमें चाय के अलावा कई दूसरे पेय भी बेहद सस्ती दर पर उपलब्ध कराये। बस इतनी-सी बंदिश रखी कि वहां शराब नहीं पी जा सकेगी।

इसके पीछे उनकी मंशा यह थी कि यूरोप के क्लबों व सोसायटियों की तरह लखनऊ में भी ऐसी जगहें विकसित की जायें, फुरसत के पलों में लोग जहां जाकर न सिर्फ खायें-पीयें बल्कि बैठकर गप्पें हांकें, अखबार पढ़ें और दोस्तों-परिचितों से मिलें-जुलें। लेकिन लखनवियों ने इस चाय घर की तरफ झांकना तक कुबूल नहीं किया। क्योंकि तब उन्हें गवारा नहीं था कि अंग्रेज उसकी मार्फत उन पर अपनी संस्कृति थोप दें। अंततः नाकाबिल-ए-बर्दाश्त घाटे के बाद मीर मुहम्मद हुसैन यह चायघर बन्द करके हैदराबाद चले गये।

बताते हैं कि उन 'अजब-गजब' दिनों से कोई सौ साल पहले से 'करे पेट से कौन अदावत, रोजै दावत, रोजै दावत' जैसी कहावत लखनऊ के लोगों के सिर चढ़कर बोलने लगी थी। सूबे के मशहूर इतिहासकार अब्दुल हलीम 'शरर' ने अपनी लोकप्रिय कृति 'गुजिश्ता लखनऊ' में एक हकीम के घर पर एक पहलवान को दी गई एक ऐसी दावत का जिक्र किया है, जो तत्कालीन अभिजात वर्ग के विलासिताभरे खान-पान और 'ताकत प्रदान करने वाली गिजा' से जुड़ी भ्रांतियों व अज्ञानों की भी पोल खोलती है।

1857 के बाद के लखनऊ की यह कहानी बन्दा मेंहदी नाम के खाने-खिलाने के शौक के लिए मशहूर हकीम के दौलतखाने से शुरू होती है। हकीम द्वारा उस पहलवान को दी गई दावत से, जो रोज सुबह बीस सेर दूध पीता और ढाई-तीन सेर बादाम व पिस्ते खाता था। इतना ही नहीं, दोपहर व शाम को ढाई सेर आटे की रोटियां और मझोले कद के बकरे का सारा गोश्त हजम कर जाता था।

कहानी के मुताबिक पहलवान दावत का न्यौता पाकर हकीम के दौलतखाने पहुंचा तो उसके नाश्ते का वक्त हो चुका था। इसलिए भूख की बेचैनी में वह थोड़ी देर ही सब्र कर पाया और जब देखा कि हकीम को उसे 'तृप्त' कराने की फिलहाल कोई जल्दी नहीं हैं तो संकोच त्यागकर बार-बार तकाजा करने लगा। यह भी कह दिया कि अब उससे भूख के मारे रहा नहीं जा रहा। लेकिन हकीम उसे तब तक टालता रहा, जब तक वह नाराज होकर बिना तृप्त हुए ही वापस लौट जाने की धमकी नहीं देने लगा।

इस धमकी के बाद हकीम अपनी जगह से उठा भी तो जैसे-तैसे पहलवान को थोड़ा और सब्र रखने को राजी करने के बाद यह वायदाकर अन्दर चला गया कि 'इंतजार की घड़ियां खत्म होने तक के लिए कुछ भिजवाता हूं।'

इसके अगले ही पल एक खादिमा ने करीने से ढका हुआ एक बड़ा-सा थाल लाकर पहलवान के सामने रख दिया। उसे देखकर पहलवान की जान में थोड़ी जान तो जरूर आई, लेकिन उसने थाल पर से परदा हटाया तो पाया कि उसमें एक छोटी-सी तश्तरी में महज छटांक भर पोलाव है, जो उसके एक कौर के लिए भी काफी नहीं।

वह ग़ुस्से में बिना जाने को उठ खड़ा हुआ। लोगों ने समझाना शुरू किया तो तैश में आकर तश्तरी का सारा पोलाव एकबारगी मुंह में डाला और बगैर मुंह चलाये निकल गया। लेकिन पांच मिनट बाद ही पानी मांगने लगा। और फिर पानी पी-पीकर खूब डकारें लीं।

तब तक दस्तरखान बिछ गया, सजे-धजे थाल आ गये और खाना 'चुना' जाने लगा। (तब लखनऊ में खाना 'परोसा' नहीं बल्कि 'चुना' जाता था।) फिर तो हकीम ने पहलवान की ओर उसी पोलाव की (जिसकी छटांक भर की थाली पहले भेजी थी) पाव भर की थाली बढ़ाई और कहा, 'लीजिए, पहलवान साहब! खाइये। मुझे अफसोस है कि इसके बनने में देरी से आपको तकलीफ उठानी पड़ी।'

लेकिन पहलवान ने तौबा-सी करते हुए कहा, 'हकीम साहब, अब तो मुझे माफ ही कर दीजिए। मैं इतना अघा चुका कि अब एक चावल भी नहीं खा सकता।' हकीम फिर भी इसरार पर इसरार करता लेकिन पहलवान कहता रहा, 'अब खाऊं तो भला कैसे खाऊं? पेट में जगह ही नहीं बची।'

हकीम ने अगले ही पल सारा पोलाव अपने पेट के हवाले कर लिया और तंज करते हुए कहने लगा, 'पहलवान साहब! बीस-बीस तीस-तीस सेर खा जाना इंसान की नहीं, बैलों-भैंसों की गिजा होती है। इंसान की गिजा तो ऐसी होनी चाहिए कि वह बस दो कौर खाये और बीस-तीस सेर गल्ला व गोश्त वगैरह खाने के मुकाबले ज्यादा ताकत व फुर्ती पाये। बहरहाल, मेरी ओर से कल फिर आपकी दावत।'

अगले दिन पहलवान आया तो बोला, 'हकीम साहब! आपके पोलाव के एक कौर पर बीस सेर दूध, सेरों मेवे, गोश्त व गल्ला कुर्बान। कल जैसी ताकत व फुर्ती मैंने इससे पहले जिन्दगी में कभी नहीं पायी।'

सुनकर हकीम मूंछों में मुसकुरा दिया। ■

गुलाबी जायका कश्मीर से चली यह गुलाबी चाय कब लखनऊ के दस्तरख़ान में शामिल हो गई, पता ही नहीं चला।

संडे नवजीवन
रविवार, 06 जुलाई, 2025 I www.navjivanindia.com
Published Date 06 July, 2025 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

हुक्के की गुड़गुड़ और बड़े-बड़े फैसले

हुक्के की सांस्कृतिक भूमिका और उसके महत्व के साथ ही इसकी बनावट की कहानी भी रोचक है

संस्कृति तलवार

हरियाणा के ग्रामीण इलाकों में हुक्का हमेशा से आपसी मेल-जोल और बैठकों की धुरी रहा है। रोहतास बचपन में गांव की चौपाल के दृश्य को याद करते हुए कहते हैं, "हुक्के के सहारे ही तो पंचायत चला करती थी।"

रोहतास बताते हैं, "ये चाय या पानी की तरह नहीं है, जो सारा दिन न चल सके। हुक्का काफी व्यावहारिक है। इसमें तंबाकू भर दो, एक बार आग लगाओ और बस। पांच से दस लोग आराम से साथ बैठकर घंटों एक ही हुक्का साझा कर सकते हैं। यह समय बिताने का एक जरिया भी है।"

रोहतास (40) हुक्का कारीगर हैं। मुस्कुराते हुए कहते हैं, "अब तो घर-घर एक चौपाल है, और हर घर में हुक्का।" काम से थोड़ा विराम लेने के दौरान बात करते हुए खुद भी हुक्के के कश ले रहे थे। उनको इसकी आदत 12 साल पहले लगी जब हुक्का बनाना शुरू किया था।

माना जाता है कि हुक्के का इस्तेमाल 16वीं शताब्दी में उत्तर भारत में मुगल साम्राज्य के दौरान शुरू हुआ। यह भी कि, मुगल साम्राज्य के तीसरे बादशाह अकबर हुक्के का इस्तेमाल करने वाले कुछ शुरुआती लोगों में से थे। ऐसा भी कहा जाता है कि इसका चलन शायद इससे भी पहले मध्य और पश्चिमी एशिया में शुरू हो चुका था।

अब शुरुआत कहीं से भी हुई हो, हुक्का हरियाणा के लोगों के लिए उनके दैनिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग है।धरमबीर कहते हैं, "ये हमारी संस्कृति का हिस्सा है। बड़े-बड़े फैसले हुक्का पीते हुए लिए गए हैं।" उम्र के सातवें के दशक में पहुंच चुके धरमबीर सिंह जांगड़ा अनुभवी हुक्का कारीगर हैं। उन्हें मिलाकर भैंसवाल कलां की दोनों पंचायतों- भैंसवाल कलां मीठां और भैंसवाल कलां बावला, में अब केवल चार हुक्का निर्माता ही बचे हैं। हरियाणा के सोनीपत जिले के ये दोनों गांव हस्तनिर्मित हुक्कों के लिए प्रसिद्ध हैं। रोहतास बताते हैं, "एक समय था जब गांव में लगभग बीस कारीगर होते थे, लेकिन बाजार में केवल दो या तीन परिवारों के काम को ही सही मायने में सराहना मिली, और उनका हुनर टिक गया। बाकी धीरे-धीरे दूसरे कामों में लग गए।"

धरमबीर की उम्र 15 साल थी, जब उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और अपने ताऊ कालीराम के साथ सोनीपत शहर जाकर हुक्का बनाना सीखने लगे। धरमबीर बताते हैं, "मेरे ताऊ मेरे पिता से बेहतर कारीगर थे, इसीलिए मैंने उनसे सीखने का फैसला किया।"

धरमबीर ने अपने घर के सामने वाले कमरे में अपनी कार्यशाला बनाई है। उनका घर भैंसवाल कलां मीठां गांव में है जो दिल्ली-हरियाणा सीमा से लगभग एक घंटे की दूरी पर उत्तर में है। नवंबर महीने की ठंड सुबह में, वे तांबे के तार की एक लंबी टुकड़ी की मदद से एक हुक्का जोड़ने में व्यस्त दिखे। अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर दिखाते हुए बोले- "इस काम के दौरान अक्सर मेरे हाथ कट जाते हैं।"

एक हुक्के के कुल 12 मुख्य हिस्से होते हैं। एक हिस्सा लकड़ी के बेलनाकार टुकड़ों से बनाया जाता है, जिन्हें लगभग 8-10 रुपये प्रति पीस की दर से खरीदा जाता है। धरमबीर बताते हैं, "इनसे हुक्के का मुख्य ढांचा तैयार होते है जिसे बहुत सावधानी से आकार दिया जाता है।"

धरमबीर का परिवार जांगड़ (जिसे जांगड़ा भी कहा जाता है) समुदाय से ताल्लुक रखता है, जो हरियाणा में अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के रूप में पंजीकृत है। उनके एक छोटे भाई, करमबीर भी हुक्का कारीगर हैं, जबकि दो भाई पुलिस विभाग में कार्यरत हैं।

दो तीखे औजारों, नान और चौरसी, की मदद से रोहतास एक लकड़ी की नली को तराश रहे हैं, जिसे लोहे की दो कील की मदद से एक जगह पर टिकाकर रखा गया है। यह एक साधारण खराद मशीन है, जिसे वह धनुष जैसी दिखने वाली कमानी से घुमाते हैं। लकड़ी पर लगातार छेनी के वार से एक लयबद्ध तेज आवाज वातावरण में गूंजती है। रोहतास पोरी को तराश रहे हैं, जिसे बाद में कुल्फी से जोड़ा जाएगा।

रोहतास अपने रिश्तेदारों- करमबीर और धरमबीर के बारे में जिक्र करते हुए कहते हैं- "हम सब एक ही परिवार से हैं।" करमबीर ने ही रोहतास को हुक्का बनाना सिखाया और उनकी दुकान शुरू करने में मदद की। वह आज भी अपने ग्राहकों को अक्सर रोहतास के पास भेज देते हैं। रोहतास इस बात के लिए उनका आभार जताते हुए कहते हैं, "जब कोई स्थापित कारीगर किसी नए व्यक्ति की जिम्मेदारी लेता है, तो उसका बहुत असर पड़ता है।" रोहतास के पास पहले से ही कई ऑर्डर हैं जिन्हें पूरा करने में कुछ महीने लग जाएंगे।

***

हुक्के में चिलम के अंदर रखी तंबाकू गर्म करने के लिए कोयले या उपलों का इस्तेमाल किया जाता है, जिससे धुआं निकलता है जो टेरुआ से होकर टंकी तक पहुंचता है। धरमबीर बताते हैं, "गांवों में ज्यादातर कोयले की जगह जले हुए उपलों का इस्तेमाल होता है, क्योंकि इनसे ज्यादा गर्मी नहीं होती। ये सहज रूप से उपलब्ध भी हैं।"

हुक्का बनाने में इस्तेमाल होने वाला पीतल आमतौर पर 18-20 गेज की मोटी शीट के रूप में खरीदा जाता है, जिसकी कीमत लगभग 500-700 रुपये प्रति किलो होती है। इसे दिल्ली के सदर बाजार से मंगाया जाता है। एक हुक्के में लगभग आधा किलो पीतल लगता है। प्रीति देवी बताती हैं, "लेकिन जब सामान कम पड़ जाता है और कोई दिल्ली नहीं जा पाता, तो सोनीपत से परातें (जिसमें आटा गूंथा जाता है) खरीदी जाती हैं, जिन्हें पिघलाकर तराशा जाता है और इसे हुक्का बनाने में इस्तेमाल किया जाता है।" प्रीति देवी कई सालों से इस प्रक्रिया को देखती आ रही हैं।

हुक्का बनाने की पूरी प्रक्रिया में सबसे ज़्यादा समय डोडा (पीतल के जोड़, जो हुक्के के विभिन्न हिस्सों को आपस में जोड़ते हैं) बनाने में लगता है। कारीगर इन्हें खासी बड़ी मात्रा में तैयार करते हैं (हर हुक्के के लिए करीब पांच डोडे की जरूरत होती है) और इन्हें तैयार करने में चार से पांच महीने लग जाते हैं, ताकि ये साल भर चल सकें। लेकिन हुक्के का सबसे जरूरी हिस्सा है टंकी, जो उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद से मंगाई जाती है। टंकी के वजन और आकार के अनुरूप ही हुक्के के अन्य पुर्जों का आकार और वजन तय किया जाता है, और अंततः हुक्के का अंतिम मूल्य टंकी का वजन और आकार देखते हुए तय होता है। टंकी की क्षमता के अनुसार हुक्के की कीमतें भी बदल जाती हैं, जो बाजार में 9,500 रुपये लेकर से 20,000 रुपये में बिकता है।

भैंसवाल कलां मीठां में बनाए गए हुक्कों की कीमत 12,000 से लेकर 23,000 रुपये तक होती है। एक हुक्का तैयार करने में लगभग तीन से पांच दिन लगते हैं, इसलिए कारीगर प्रति हुक्का 2,500 रुपये से 3,000 रुपए तक मजदूरी लेते हैं। इससे उन्हें औसतन हर महीने 25,000 रुपये की आमदनी होती है।

रोहतास बताते हैं कि गांव में बनाए गए लगभग 80 प्रतिशत हुक्के हरियाणा में ही बिक जाते हैं, जबकि बाकी उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मुंबई और हिमाचल प्रदेश के ग्राहक खरीदते हैं। वह आगे कहते हैं, "अब कई युवा यूके, कनाडा और अमेरिका जैसे देशों में बस रहे हैं, तो हर साल तीन-चार हुक्के निर्यात के लिए भी खरीदे जाते हैं।"

ग्राहक हुक्का खरीदने खुद गांव आते हैं, ताकि सुनिश्चित कर सकें कि उसमें कोई रिसाव न हो। रोहतास की कार्यशाला में बैठे नरेंद्र बताते हैं, "अगर कहीं से भी रिसाव हो भी, तो टेरुआ से खींचने पर पकड़ में आ जाएगा।" टेरुआ पानी की टंकी से जुड़ी दो नलियों में से एक है। लेकिन वह भरोसे से कहते हैं, "ऐसा कभी नहीं होता।" कारीगर दो साल की गारंटी देते हैं। हालांकि रोहतास कहते हैं, "ग्राहक ठीक से देखभाल करे, तो हुक्का पचास साल तक चल सकता है।"

धरमबीर को हुक्का बनाते हुए भी करीब पचास साल हो चुके हैं, और अभी रुकने का उनका कोई इरादा नहीं दिखता। सेहत से जूझते हुए भी वे सिर्फ खाने, सोने और खुद हुक्का पीने के लिए ही रुकते हैं। उनकी बहू प्रीति देवी चिंतित होकर कहती हैं, "वह बिल्कुल आराम नहीं करते। दिल की सर्जरी के बाद डॉक्टर ने उन्हें दो-तीन महीने आराम की सलाह दी थी, लेकिन उन्होंने तीन दिन बाद से ही फिर से काम शुरू कर दिया।" उन्हें आराम देने के इरादे से कोई बाहर ले भी जाए तो कुछ ही दिनों में गांव लौट आते हैं। कहते हैं, "मेरा जी कहीं और नहीं लगता।" उन्हें काम करना ही ज्यादा पसंद है।

लेकिन स्कूल में पढ़ रहे तीन बच्चों के पिता रोहतास हालात से चिंतित हैं, सोचते हैं कि क्या अगली पीढ़ी इस कारीगरी को आगे बढ़ाएगी। कहते हैं, "अगर हमारे बच्चे सफल न हुए या नौकरी न मिली, तब हम उन्हें यह पारिवारिक हुनर सिखाएंगे। कम-से -कम इससे उनका खर्चा तो चल सकेगा। बाकी सब टाइम टाइम की बात है।" ■

यह स्टोरी मृणालिनी मुखर्जी फाउंडेशन (एमएमएफ) से मिली फेलोशिप के तहत लिखी गई है। अनुवाद: प्रतिमा। सामार: ruralindiaonline.org

विरासत हुक्का सिर्फ एक विरासत का नाम नहीं, इसके निर्माण से लेकर इसे संजोने तक की कहानी में तमाम मोड़ हैं। हरियाणा के सोनीपत जिले के ये कारीगर हुक्के की पोरी से लेकर कुल्फी तक और टंकी से लेकर टूटी तक, यानी हुक्के का पोर-पोर खुद ही बनाते हैं। बाजार की दौड़ में धरमबीर जैसे लोग अब कम भले होते जा रहे हैं लेकिन इसकी सांस्कृतिक भूमिका और विरासत की बात आती है पूरा परिवार ही नहीं, गांव के गांव एक हो जाते हैं।

सभी फोटो: संस्कृति तलवार

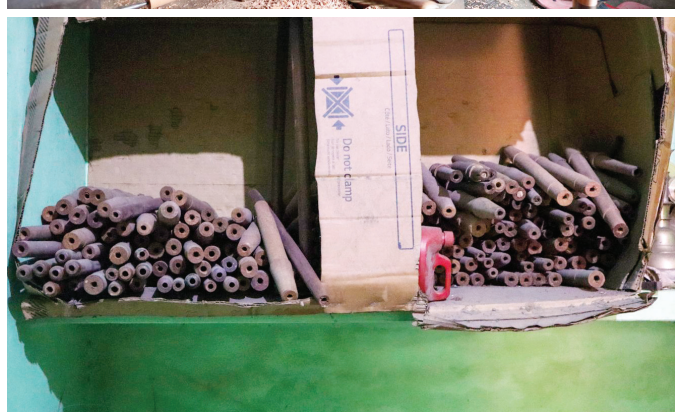

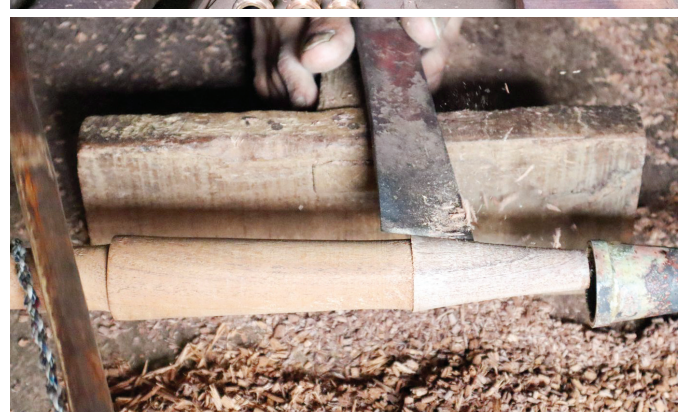

कारीगरी पोरी, यानी हुक्के के बीच का आधार, जिसे बनाना बारीकी मांगता है। रोहतास लेथ मशीन की मदद से पोरी तराशते हैं और फिर धनुष जैसे दिखने वाले औजार (कमानी) से घुमाते हैं। इनकी कार्यशाला में तीन अलग-अलग आकार की कुल्फियां अगल-बगल दिख रही हैं, जिन्हें विभिन्न आकार के हुक्कों में जोड़ा जाना है। (नीचे) लगभग 8-10 रुपये प्रति पीस की दर से खरीदे गए लकड़ी के बेलनाकार टुकड़ों को सावधानीपूर्वक तराशा जाता है, ताकि हुक्के का मुख्य ढांचा तैयार किया जा सके और यह सब होते हुए जब चौरसी (छेनी) लकड़ी पर चलती है, तो उससे निकलने वाली तेज लेकिन लयबद्ध आवाज भी अपना ही आकर्षण पैदा करती है।

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तम:
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051